देवताओं का घमण्ड

बाल बुक बैंक • नई दिल्ली

देवताओं का घमण्ड

...तो क्या असुरों की तरह सुर भी घमण्ड करते हैं? देवताओं के जीवन से सम्बन्धित अत्यन्त रोचक कहानी 'देवताओं का घमण्ड'! ऐसी ही ग्यारह अमर कथाएँ, जो भारत के गौरवग्रन्थ उपनिषदों से ली गई हैं। इनमें देश के भावी नागरिक मनोरंजन के साथ-साथ कोई न कोई महान संदेश भी पाएँगे। अतीत की सच्ची झाँकी प्रस्तुत करने वाली इन कथाओं को हिंदी में सुगम शैली और नई दृष्टि से लिखा है—बाल साहित्य के प्रमुख लेखक सन्तराम वत्स्य ने।

देवताओं का घमण्ड

सन्तराम वत्स्य

बाल बुक बैंक • नई दिल्ली

मेरी पुस्तक और मेरा नाम

मूल्य : एक रुपया अस्सी पैसे (१.८०)

प्रकाशक : बाल बुक बैंक (प्रो० सरस्वती प्रकाशन),
१८ माडल बस्ती, नई दिल्ली-५
कापीराइट : बाल बुक बैंक, नई दिल्ली-५
प्रथम संस्करण : नवम्बर, १९६९
आवरण-शिल्पी : के० के० सीकरी
मुद्रक : हितसरन अग्रवाल, सरस्वती प्रेस, मथुरा

आरुणि
७

उपमन्यु
१४

सत्यकाम जाबाल
२०

नचिकेता
२८

उत्तंक
३५

श्वेतकेतु
४६

उपकोसल
५५

मैत्रेयी
६०

प्राण और
इन्द्रियों का द्वन्द्व
६६

देवताओं का घमण्ड
७२

ब्रह्मा का उपदेश
८०

आरुणि

महर्षि धौम्य के आश्रम में बहुतसे शिष्य रहते थे, जो उनसे विद्या प्राप्त करते थे। शिष्य अपने गुरुदेव का बहुत आदर करते थे और उनकी वाणी ब्रह्मवाक्य की तरह मानते थे। इन्हीं महर्षि का एक शिष्य था। नाम था—आरुणि।

आरुणि एकनिष्ठ शिष्य था। वह तन-मन से गुरुदेव की सेवा करता। उनकी प्रत्येक आज्ञा को सिर आँखों पर लेता। गुरुजी उसकी इस निष्ठा से भली भाँति परिचित थे और सबके सामने उसकी प्रशंसा करते थे। दूसरे शिष्य आरुणि की प्रशंसा सुनकर मन ही मन जलते थे। पर ऊपर से कुछ नहीं कहते थे। एक दिन की बात है, वर्षा ऋतु थी। आकाश में बादल छाये हुए थे। गुरुजी अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। सहसा बादल घने होते चले गए। थोड़ी ही देर में बूँदा-बाँदी आरम्भ हो गई। आकाश में बिजली चमकने लगी। देखते ही देखते बादलों के गर्जन के साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी। चारों ओर पानी ही पानी हो गया। गुरुजी ने चिन्ता-

भरे स्वर में कहा, "बेटा आरुणि, आज तो बड़ी वर्षा हो रही है। हमारे खेत का बाँध अवश्य टूट गया होगा। यदि बाँध नहीं बाँधा गया तो हमारी सारी फसल खराब हो जायगी। तुम जल्दी से जाओ और बाँध ठीक कर आओ!"

आरुणि झट चलने को प्रस्तुत हो गया। गुरुजी ने फिर सम्बोधित करते हुए कहा—"सुनो आरुणि, तुम्हें श्रम तो अधिक पड़ेगा, पर देखना, बाँध पक्का हो जाना चाहिए।" आरुणि ने सुना और 'जो आज्ञा गुरुदेव' कहकर चल पड़ा। अभी गुरुदेव शायद उसे और भी कुछ कहने जा रहे थे, पर सुनने के लिए अब वहाँ आरुणि कहाँ था! वह ऐसे उछल-कर भागा जा रहा था मानो कोई हिरण हो।

आरुणि कुछ ही समय में खेत के समीप जा पहुँचा। वहाँ जाकर उसने देखा कि खेत का बाँध एक किनारे से टूटा है और पानी बड़ी तेजी से बहा जा रहा है। आरुणि उसी क्षण बाँध को बाँधने का यत्न करने लगा। वह उस टूटे भाग को मिट्टी से भरने लगा। वह मिट्टी का ढेर उस टूटे हुए भाग पर डालता; पर पानी का बहाव इतना तेज था कि जब तक वह दूसरा मिट्टी का ढेर लाकर डालता, तब तक पहली मिट्टी का ढेर बह जाता था। उस समय पानी का प्रवाह इतना तेज था कि अगर वह एक स्थान पर पानी का बहना बन्द भी कर लेता तो पानी दूसरी जगह से बहना आरम्भ हो जाता था। इस प्रकार वह पानी रोकने का अथक प्रयत्न करता रहा, किन्तु वह अपने काम में सफल न हो सका।

आरुणि ने एक क्षण सोचा—'अभी भागकर गुरुदेव के पास चला जाऊँ और कह दूँ कि मैं उस पानी के बहाव को बन्द नहीं कर पाया·····' पर इतने में दूसरे विचार ने आन दबोचा—'जब तक मैं गुरुदेव को इस बात की सूचना दूँगा तब तक तो अनर्थ हो जायगा ! खेत का बाँध कई जगह से टूट जायगा।'

वह गहरे सोच में डूब गया—'वापिस लौटने का अर्थ हुआ—गुरुदेव की आज्ञा का उल्लंघन। ·····नहीं, नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता। ·····पर मैं क्या करूँ ? कैसे बाँध बाँधूँ ? खेत के पानी को बहने से कैसे रोकूँ ? एक जगह से पानी बहना बन्द करता हूँ तो दूसरी जगह से बहने लगता है। क्या खेत का पानी बहने दूँ ? क्या गुरुदेव के पास निराश लौट जाऊँ ? ·····नहीं, नहीं, मैं नहीं लौटूँगा। मैं अवश्य ही खेत का बाँध बाँधूँगा। पानी को बहने से रोकूँगा, चाहे मुझे अपने प्राणों की बाजी भी क्यों न लगानी पड़े।' यह सोचकर आरुणि स्वयं टूटे हुए बाँध के स्थान पर लेट गया।

आरुणि के बाँध के साथ लेटते ही पानी निकलना बन्द हो गया। वह चिरकाल तक इसी तरह पड़ा रहा। उसे बहुत ठण्ड लगने लगी, पर वह इस विचार से बहुत प्रसन्न था कि बाँध में से पानी निकलना बन्द हो गया है। आधी रात बीत गयी, परन्तु वह अपनी जगह से उस से मस नहीं हुआ। बाँध से सटकर लेटे रहने से उसे सर्दी और भी अधिक लगने लगी और शरीर जकड़ने लगा। उसके सारे बदन में दर्द उठ रहा था, किन्तु वह अपनी जगह से हिलना नहीं

चाहता था। इसी तरह सारी रात बीत गई।

दिन निकला। आश्रमवासी शिष्य अपनी-अपनी दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर विद्याध्ययन के लिए आए। गुरुजी शिष्यों को पढ़ाने के लिए बैठे। सब शिष्य वहाँ उपस्थित थे। केवल आरुणि नहीं था। आरुणि को न पाकर गुरुजी ने अपने शिष्यों से पूछा, "आज आरुणि नहीं दीख रहा। कहाँ है वह ?"

शिष्यों ने कहा, "गुरुदेव, आपने उसे कल खेत का बाँध बाँधने के लिए भेजा था। तब से वह नहीं लौटा।" महर्षि सन्न रह गए —"क्या वह रात-भर में नहीं लौटा ?" वे अपने-आप ही बड़बड़ाते हुए खेत की ओर चल पड़े—"हो न हो, वह अब भी खेत का बाँध बाँधने में जुटा होगा।" आगे-आगे गुरु थे, पीछे-पीछे शिष्य-मण्डली। सब चकित थे। कुछ शिष्य मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे कि अच्छा हुआ आरुणि को खूब सजा मिली खुले में जागते रहने की, जबकि हम रात-भर गहरी नींद में सोए।

खेत में पहुँचकर गुरुदेव ने जोर से पुकारा—
"बेटा आरुणि !"
"बेटा आरुणि, तुम कहाँ हो ?"
"आवाज दो, बेटा आरुणि, तुम कहाँ हो ?"

गुरुजी ने देखा कि आरुणि बाँध से सटकर बेसुध लेटा है···

जब कहीं से कोई उत्तर न मिला तो महर्षि व्याकुल हो गए। उन्होंने खेत का चक्कर लगाना आरम्भ किया। कुछ देर में वे वहीं पहुँच गए जहाँ खेत का बाँध टूटा हुआ था। उन्होंने क्या देखा कि आरुणि बेसुध लेटा हुआ है। और उसके शरीर पर मिट्टी की तहें जम गई हैं! सर्दी के कारण उसका शरीर जकड़ गया था। अब उसकी साँस धीरे-धीरे चल रही थी।

गुरुदेव बोले—"बेटा आरुणि, यहाँ क्या कर रहे हो? उठो, जल्दी आओ हमारे पास।"

आरुणि ने उत्तर दिया—"गुरुदेव, यदि मैं यहाँ से उठता हूँ तो सारा पानी बहकर बाहर निकल जायगा।"

गुरुदेव बोले—"बेटा आरुणि, अब तुम बाँध की चिन्ता मत करो। उठो, तुम कल से यहाँ पड़े हो। देखो, तुम्हें ठण्ड लग रही है। ठण्ड के कारण तुम्हारी देह जकड़ रही है। उठो बेटा आरुणि, उठो, जल्दी हमारे पास आओ।"

गुरुदेव का आदेश पाकर आरुणि उठ खड़ा हुआ और समीप जाकर उनके चरणों में बेसुध गिर पड़ा। वह एक ही रात में काफी दुर्बल हो गया था। आरुणि की यह दशा देखकर महर्षि की आँखों में आँसू आ गए। वे उसकी निष्ठा को देखकर गद्गद हो गए। वे उसे मूर्छित अवस्था में आश्रम उठा लाए। और अपने हाथों से उसका उपचार किया। औषधियों से उसकी शीत से रक्षा की; उसके शरीर को गर्माने की व्यवस्था की। थोड़ी देर में आरुणि की मूर्छा भंग हुई। अब गुरुदेव की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

महर्षि ने आत्मविभोर होकर कहा—"बेटा आरुणि, तुम्हारी निष्ठा पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। तुम एक दिन निष्ठावान एवं चरित्रवान पण्डित बनोगे।"

आरुणि ने गुरुदेव के चरण छू लिए।

तब से आरुणि के सहपाठी तथा अन्य आश्रमवासी उसका बहुत आदर करने लगे। दूर-दूर तक आरुणि अपनी लगन के लिए प्रसिद्ध हो गया। आज भी उसका नाम ध्रुव तारे की तरह चमक रहा है।

उपमन्यु

वस्तुतः महर्षि धौम्य बहुत ही विचित्र प्रकृति के व्यक्ति थे। वे ऊपर से अपने शिष्यों पर कठोरता का व्यवहार करते प्रतीत होते थे, परन्तु मन से उन्हें अत्यन्त स्नेह करते थे। वे अपने शिष्यों को जीवन के हर क्षेत्र में योग्य बनाना चाहते थे, यही कारण है कि वे शिष्यों को कठोर से कठोर परीक्षाओं में से निकालते थे। जो उनकी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता, वह अपने जीवन में कुन्दन बन चमकता था। आरुणि की तरह एक उनका शिष्य था, जिसका नाम था उपमन्यु।

उपमन्यु बहुत ही नम्र स्वभाव का शिष्य था। वह बड़ा सेवापरायण और निष्ठावान था। गुरु की आज्ञा का पालन वह अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझता था।

महर्षि ने उसे गायें चराने का कार्य सौंप रखा था। गुरु की आज्ञा से वह प्रतिदिन गायें चराने के लिए वन में चला जाता और सन्ध्या-समय वापिस आश्रम लौट आता।

प्रतिदिन की भाँति सन्ध्या-समय उपमन्यु लौटा।

गायों को गोशाला में पहुँचाकर वह गुरुदेव के पास आया और दण्डवत् प्रणाम करके उनके चरणों के समीप बैठ गया।

महर्षि ने पूछा—

"वत्स उपमन्यु ! तुम आजकल क्या खाकर निर्वाह करते हो ?"

उपमन्यु ने नम्रता से कहा—"गुरुदेव, मैं भिक्षा माँगकर अपना काम चलाता हूँ।"

महर्षि बोले—"पुत्र, भिक्षा में मिला अन्न तुम्हें अपने-आप नहीं खाना चाहिए। भिक्षा में जो अन्न मिले उसे पहले गुरु के सम्मुख लाकर रखना चाहिए। हाँ, यदि गुरु कुछ दे दें तो उसे ग्रहण करो, अन्यथा नहीं।"

उपमन्यु ने सरल भाव से उत्तर दिया—"भगवन् ! अब ऐसा ही करूँगा।" यह कहकर उपमन्यु वहाँ से चला गया।

●

गुरु की आज्ञा पाकर अब उपमन्यु भिक्षा में मिला पूरा अन्न गुरुदेव के सम्मुख लाकर रख देता। महर्षि उपमन्यु का लाया पूरा अन्न अपने पास रख लेते—उसमें से उपमन्यु को कुछ भी नहीं देते थे।

उपमन्यु उन्हें प्रणाम करता और उनकी इच्छा को हृदय से शिरोधार्य करके वहाँ से चला आता। पर पेट तो

भरता था। वह दुबारा भिक्षा माँग लाता और स्वयं खा लेता था।

कुछ दिन व्यतीत हो गए। एक दिन सन्ध्या-समय जब उपमन्यु गुरुदेव को प्रणाम करके उनके चरणों के समीप आ बैठा तो उन्होंने पूछा—"वत्स! तुम भिक्षा तो लाकर मुझे दे देते हो, फिर आजकल क्या खाकर निर्वाह करते हो?"

उपमन्यु ने उत्तर दिया—"भगवन्! मैं एक बार की भिक्षा का अन्न आपको सौंपकर, दुबारा भिक्षा माँगकर लाता हूँ और उसे स्वयं खा लेता हूँ।"

गुरुदेव बोले—"पुत्र, यह सर्वथा अनुचित है। तुम दूसरी बार भिक्षा माँगकर लाते हो तो जानते हो उसका प्रभाव कहाँ पड़ता है? उससे दूसरे भिक्षार्थियों को ठीक से भिक्षा नहीं मिल पाती और वे भूखे ही रह जाते हैं। आज से तुम दुबारा भिक्षा मत माँगना।"

"जैसी गुरुदेव की आज्ञा।" यह कहकर उपमन्यु पहले की तरह सरलता से वहाँ से चला आया।

उपमन्यु अपने गुरु की आज्ञा का यथावत् पालन करने लगा। वह एक ही बार भिक्षा माँगकर लाता। भिक्षा में जो अन्न मिलता उसे गुरुदेव को दे देता, और दिन-भर गायें चराता। पर बिना खाये-पिये कब तक रहता! जब गायों के बछड़े दूध पी लेते तो उनका बचा-खुचा दूध पीकर अब वह अपनी उदर-पूर्ति करने लगा।

अब उपमन्यु बछड़ों से बचा-खुचा दूध पीकर रहने लगा···

इस प्रकार और कई दिन बीत गए। एक बार महर्षि ने उपमन्यु को अपने समीप बुलाकर पूछा, "वत्स ! तुम भिक्षा माँगकर पूरा अन्न मुझे दे देते हो। दुबारा भिक्षा भी नहीं माँगते। तब तुम आजकल क्या खाकर निर्वाह करते हो ?"

उपमन्यु बोला—"गुरुदेव ! बछड़े जब दूध पी लेते हैं तो उनसे बचा हुआ दूध मैं पी लेता हूँ।"

महर्षि बोले—"पुत्र ! ऐसा करना उचित नहीं है। गायों का स्वामी ही उनके दूध का भी स्वामी होता है। मुझसे पूछे बिना तुमको गायों का दूध नहीं पीना चाहिए।"

"जो आज्ञा गुरुदेव।" सदा की भाँति सरल भाव से यह कहकर उपमन्यु वहाँ से चला आया।

आज्ञाकारी शिष्य ने गायों का दूध पीना छोड़ दिया। अब वह दिन-भर वन में गायें चराता और जंगली पेड़-पौधों के पत्ते खाकर रहता। एक दिन उसे बहुत भूख लगी और उसने अनजाने में बहुतसे आक के पत्ते खा लिये। इससे उसकी आँखों की ज्योति जाती रही और वह अन्धा हो गया। अब उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता था। गायों के चलने का शब्द सुनकर ही वह उनके पीछे-पीछे आश्रम की ओर चला आ रहा था। तब अचानक वह रास्ते में एक कुएँ में गिर पड़ा। भाग्यवश कुएँ में जल नहीं था, इसलिए उपमन्यु डूबा नहीं। उसे थोड़ी-बहुत चोट अवश्य आ गई।

सन्ध्या-समय सब गायें चरकर आश्रम में आ गईं, किन्तु उपमन्यु वापिस न लौटा। इसपर महर्षि को चिन्ता हुई। वे अपने शिष्यों को साथ लेकर उपमन्यु के ढूँढ़ने के लिए निकले और बार-बार पुकारने लगे—

"उपमन्यु!

"उपमन्यु!! तुम कहाँ हो ऽ ऽ

"आवाज दो, उपमन्यु!!! कहाँ हो ऽ ऽ ऽ"

उपमन्यु ने कुएँ में से उत्तर दिया—"गुरुदेव! मैं यहाँ कुएँ में गिरा हूँ।"

महर्षि शिष्यों सहित कुएँ के समीप गए और उपमन्यु को कुएँ में गिरा देखकर बहुत दुखी हुए। महर्षि ने पूछा—"बेटा

उपमन्यु ! तुम कुएँ में कैसे गिरे ?''

उपमन्यु ने आरम्भ से लेकर अन्त तक सारी बात कह सुनायी। सारी बातें सुनकर महर्षि ने उसे कुएँ से बाहर निकाला और विविध उपचार किए, जिनसे उपमन्यु के नेत्रों में ज्योति लौट आई। बाद में यही उपमन्यु गुरु-कृपा से महान पण्डित हो गया।

×

कहते हैं, गुरु की आज्ञा से उपमन्यु ने अश्विनीकुमारों को स्मरण किया। इसपर अश्विनीकुमारों ने प्रसन्न होकर उपमन्यु को नेत्रों की ज्योति प्रदान की। जो भी हो, यह सत्य है कि उपमन्यु को ज्योति मिली, और वह विद्वान बना।

सत्यकाम जाबाल

गौतम एक प्रसिद्ध महर्षि हुए हैं। एक दिन उनके आश्रम में एक छोटा-सा बालक आया। उसकी आयु लगभग दस-बारह वर्ष की थी। उसके हाथ में समिधा, कमर में मुञ्ज और कन्धे पर अजिन था। बालक ने बड़ी नम्रता से गौतम ऋषि के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया और प्रार्थना की—"भगवन्! मैं आपके चरणों में रहकर विद्या प्राप्त करना चाहता हूँ। कृपया आप मुझे स्वीकार कीजिये।"

बालक के ये वचन सुनकर महर्षि प्रभावित हुए। वे स्नेह से बोले—"वत्स, तुम्हारा क्या गोत्र है? और तुम्हारे पिता का क्या नाम है?"

बालक ने सहज भाव से तुरन्त उत्तर दिया—"गुरुदेव! मेरी माता ने बताया है कि मैं एक दासी-पुत्र हूँ। दासी-पुत्र होने के कारण मुझे अपने गोत्र का पता नहीं और न ही अपने पिता के नाम से परिचित हूँ। मेरी माता का नाम जबाला है, अतः आप मुझे सत्यकाम जाबाल कह सकते हैं।"

उस बालक की इस वाणी को सुनकर महर्षि के समीप

बैठे शिष्य दबी हँसी में हँसने लगे। कुछ शिष्य काना-फूसी करने लगे और उसपर व्यंग कसने लगे—"ऐसा कौन है जो अपने गोत्र को न जानता हो और जिसे अपने पिता का नाम तक मालूम न हो! यह अवश्य किसी निम्न जाति से होगा अतः अपनी वास्तविक बात को छिपा रहा है।" किन्तु वह बालक निडर होकर गुरुदेव के चरणों के समीप खड़ा रहा।

गौतम ऋषि कुछ देर तक मौन रहे। फिर प्रसन्न होकर सत्यकाम के सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"वत्स, जिस निडरता और सचाई के साथ तुमने बात कही है, उससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे पिता कोई भी क्यों न रहे हों, तुम्हारे स्वभाव की सरलता और कपटहीनता से यह सिद्ध होता है कि तुम मेधावी बालक हो, और तुम्हें विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। जबाला-पुत्र सत्यकाम, आओ, आज से मैं तुम्हें अपनी शिष्य-मंडली में स्वीकार करता हूँ।"

बालक के हर्ष का पारावार न रहा। वह कृत-कृत्य हो उठा। इस होनहार सहपाठी को देखकर आश्रम के अन्य विद्यार्थियों के मन में ईर्ष्या की लहर दौड़ गई।

गुरुदेव ने सत्यकाम जाबाल का विधि से यज्ञोपवीत संस्कार कराया। इसके पश्चात् बालक का अध्ययन-कार्य आरम्भ हुआ। वह अपने अध्ययन में निष्ठा से जुट गया। इस प्रकार कुछ काल तक सत्यकाम आश्रम में अन्य सहपाठियों के साथ विद्या पढ़ता रहा।

एक दिन प्रातर्होम समाप्त करने के बाद गौतम ऋषि ने सत्यकाम को पास बुलाकर कहा—"पुत्र, सत्यकाम ! आज से तुम्हें वन में जाकर रहना होगा।"

"जो आज्ञा गुरुदेव !" सत्यकाम बोला।

गौतम ऋषि ने फिर कहा—"वत्स ! मैं तुम्हें आश्रम की चार सौ गायें दूँगा। इन्हें तुम इस आश्रम से दूर जंगल में ले जाओ और इनका अच्छी तरह पालन करो। उनकी संख्या में वृद्धि करो और जब वे एक सहस्र गायें हो जाएं तब तुम आश्रम में वापस लौट आना।"

"ऐसा ही होगा गुरुदेव !" यह कहकर सत्यकाम वन में जाने को उद्यत हो गया।

गुरुदेव गोशाला में जाकर गायें छाँटने लगे। उन्होंने ऐसी चार सौ गायें सत्यकाम जाबाल को देने लिए निश्चित कीं जो बड़ी दुबली-पतली थीं। इन गायों को सौंपते हुए ऋषि ने कहा—"इन गायों की सेवा-टहल करना और जंगली जानवरों से इनकी रक्षा करना।"

सत्यकाम ने कहा—"जो आज्ञा गुरुदेव !"

मध्याह्न की संध्या आदि करके सत्यकाम जाबाल ने गायों के साथ वन की ओर प्रस्थान किया।

महर्षि गौतम और उसके शिष्य उसे आश्रम के बाहर तक विदा करने आये। उसे आश्रम छोड़ते समय दुःख हो रहा था। उसका मन आश्रम के प्रति आसक्ति से भर उठा था। आश्रम में रहते-रहते उसके अणु-अणु से उसे मोह हो गया था। सहसा उसे गुरुदेव की आज्ञा का विचार हुआ और उसने

मन ही मन सोचा—'जैसा गुरुजी का आदेश है, मुझे वही करना है।'

सत्यकाम ने अपने संकल्प को दोहराया। उसके मन में आत्मविश्वास जागा। अब उसकी गति तेज हो गई थी और वह आश्रम से कुछ दूर निकल आया था।

इस प्रकार सत्यकाम गायों को हाँकता हुआ अदृष्ट मार्ग की ओर बढ़ रहा था। साँझ हो चली, दूर सामने वृक्षों का झुंड दिखाई दिया। साथ ही हरा-भरा मैदान था। सत्यकाम ने गायों के साथ वहाँ रात बिताने का निश्चय किया।

रातभर वह गायों की रखवाली करता रहा। उसे थोड़ी-सी झपकी लगी थी कि प्रात हो गया। उसने सूर्य देवता को प्रणाम किया, और गायों को लेकर फिर अपने मार्ग की ओर बढ़ चला।

सत्यकाम के कन्धे पर एक डोल और कमण्डलु था, हाथ में एक लट्ठ था। यही लट्ठ उसका एकमात्र साथी था। इसी लट्ठ से उसे अपनी व गायों की जंगली पशुओं से रक्षा करनी पड़ती थी।

गायों को साथ लेकर सत्यकाम मैदानों को पार कर रहा था। कभी वह गायों के आगे-आगे चलता, कभी मध्य में और कभी उनके पीछे हो जाता। जहाँ कहीं रास्ते में उसे कुआँ, जलाशय, या हरी घास का मैदान मिलता, वहीं वह रुकता। यहाँ गायों को भरपूर अन्न-जल मिलता, फिर रात को कहीं वृक्षों के झुण्ड में जाकर वह विश्राम लेता था।

इस प्रकार एक सप्ताह बीता। इस बीच उसका मन अपने गोधन के प्रति बड़ी आत्मीयता से भर उठा था। उसे अब गायों के प्रति अनुराग हो गया था। जब किसी गाय के कहीं

सत्यकाम तन-मन से गायों की सेवा-टहल करता···

चोट आ जाती तो वह घण्टों बैठकर उसका उपचार करता। वह गायों को हाँकता, पुचकारता तथा उनपर हाथ फेर-फेर-कर अपना स्नेह जताता।

चलते-चलते वह एक हरे-भरे घने स्थान पर पहुँच गया जहाँ हरियाली ही हरियाली थी। साथ ही स्वच्छ जला-शय भी था। थोड़ी-सी दूरी पर वृक्षों का झुण्ड था, जहाँ गायों के निवास के लिए भरपूर छाया थी। इस स्थान को ठीक

समझकर वहीं उसने अपनी गोशाला बना ली।

समय बीतता चला गया। मास, वर्ष बीत गये। इस बीच सत्यकाम ने उस स्थान को बहुत सुन्दर बना लिया। गोशाला में गायों के रात्रि-निवास के लिए भी व्यवस्था थी। चारों ओर बाड़ लगा दी गई थी। रात्रि के समय वह अग्नि जला लेता और दण्ड लेकर जंगली जानवरों से गायों की रक्षा करता था।

रात में वह बहुत कम सोता था। जागरुक होकर रात-दिन गायों की सेवा कर रहा था। प्रातःकाल होते ही गोशाला में हलचल शुरू हो जाती। वह गायों को साथ लेकर जलाशय पर जाता, बड़े स्नेह से उन्हें नहलाता, फिर उन्हें चरने के लिए चारागाह में छोड़ देता। इस बीच वह अपनी गोशाला की सफाई कर लेता। कोई गाय अस्वस्थ हो जाती थी तो वह अपनी सुधबुध भूल जाता और उसकी सेवा-टहल में लीन हो जाता। उसे अपने हाथों चारा खिलाता, पानी पिलाता और जब तक वह बिल्कुल ठीक न हो जाती, तब तक अपनी सेवा में कोई कमी न आने देता। गायें ही उसका इष्ट थीं और गायें ही उसका तप।

गायें यद्यपि मूक प्राणी थीं, किन्तु वे सत्यकाम की स्नेह-भावना को भली भाँति पहचानती थीं। उनपर भी जैसे किसीने जादू कर दिया था। वे उसकी आवाज पर स्तब्ध होकर खड़ी हो जातीं, और उसके संकेत पर फिर चलने लगतीं। उसे दूर से आता देखतीं तो 'बां-बां' करके उसे पुकारतीं। उसका मन भी पूरी तरह गोशाला में रम गया था।

इस तरह काफी समय बीत गया। अब गोधन काफी बढ़ चला था। सत्यकाम की गोशाला में चार सौ से बढ़कर नौ सौ गायें हो गई थीं। वह सोचा करता कि कब उसके पास सहस्र गायें होंगी, और अपने गुरु की सेवा में लौटेगा। बस यही एक विचार था जो उसे श्रम करने को उकसाता था। वह अपनी साधना में लीन था।

आखिर एक सहस्र गायें हो जाने पर एक दिन प्रातः सत्यकाम ने गायों को साथ लेकर गुरु के आश्रम की ओर प्रस्थान किया। अच्छे-खासे समारोह का दृश्य उपस्थित हो गया। वह घने वन को पार कर रहा था। कहीं हरियाली, कहीं जलाशय, कहीं वृक्षों का झुण्ड—सब धीरे-धीरे पीछे छूटते जा रहे थे।

इस तरह निरंतर बढ़ते हुए सत्यकाम एक दिन अपने गुरु के आश्रम के समीप पहुँच गया। दोपहर ढल गई थी, साँझ घिरने लगी थी, गोधूलि-बेला थी और सत्यकाम आश्रम की ओर एक हजार गायें लेकर बढ़ रहा था।

आश्रम में शिष्यों को ज्ञात हुआ तो उन्होंने अपने गुरुजी को सूचना दी—"सत्यकाम लौट आया!"

आश्रम-भर में यह समाचार बिजली की गति से संचारित हो गया—"सत्यकाम लौट आया!!"

आगे-आगे गुरुजी चले। पीछे-पीछे सभी शिष्य।

आश्रम के मुख्य द्वार पर अभी पहुँच भी न पाये थे कि उन्होंने देखा—सत्यकाम जाबाल बढ़ा आ रहा है और उसके पीछे-पीछे चला आ रहा है गायों का जलूस। वहाँ एक ऐसा दृश्य उपस्थित हो गया जिसे आँखें देखते न थकती थीं।

सत्यकाम अपने गुरु को इतने निकट देखकर श्रद्धा से भर उठा। उसने तुरन्त प्रणाम किया और कहा—"आपकी कृपा से मैं गोवर्धन में सफल रहा। ये रहीं एक सहस्र गायें।"

गुरुजी आज सत्यकाम की सफलता पर फूले नहीं समा रहे थे। उन्होंने गद्‌गद कण्ठ से आशीर्वाद देते हुए कहा—"तुमने अपने श्रम व लगन से यह सिद्ध कर दिया कि तुम केवल ज्ञानी ही नहीं हो, सच्चे कर्मनिष्ठ भी हो। मैं तुम्हारे इस कृत्य का अभिनन्दन करता हूँ और आज से मैं अपने आश्रम का भार तुम्हींपर छोड़ता हूँ।"

इतना कहकर महर्षि ने सत्यकाम को अन्तिम दीक्षा दी और सारा कार्य-भार उसको सौंपकर स्वयं वनवास के लिए चले गये।

नचिकेता

प्राचीन काल में एक ऋषि थे। उनका नाम था वाजश्रवा। नचिकेता उन्हींका पुत्र था। एक बार ऋषि ने सर्वमेध यज्ञ किया। सर्वमेध यज्ञ उसी समय सम्पन्न होता है, जब यज्ञ करने वाला व्यक्ति अपना सब-कुछ दान कर दे।

ऋषि ने यज्ञ की समाप्ति के समय यज्ञकुण्ड में नारियल की अन्तिम आहुति डाली और ब्राह्मणों को दक्षिणा देना आरम्भ किया। ऋषि के पास बहुतसी गायें थीं। वे सबकी सब गायों को दान करने के विचार से उठे।

उन्होंने गौशाला में जाकर अपनी गायों पर एक दृष्टि डाली। एकाएक उनके मन में लोभ की भावना जाग उठी। उन्होंने सोचा—'यदि मैं सब गायें दे दूँगा तो मेरे पास कुछ भी शेष न बचेगा।' यह सोचकर ऋषि ने अच्छी-अच्छी गायें छाँटकर गौशाला में रख लीं। जो गायें कम दूध देती थीं और बूढ़ी हो चली थीं उन्हें ब्राह्मणों को दान में दे डाला।

ऋषिपुत्र नचिकेता ने देखा तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसे पिताजी का यह काम बहुत अनुचित लगा।

नचिकेता ऋषि का इकलौता पुत्र था। उसने सोचा—'यह सर्वमेध यज्ञ है और पिताजी ने केवल बूढ़ी गायें दान में दी हैं। उनके इस दान का क्या अर्थ होगा। इससे तो उनका यज्ञ ही निष्फल हो जायेगा।'

नचिकेता के मन में एक विचार उठा और वह तुरन्त उठकर अपने पिताजी से बोला, "पिताजी, सब कुछ तो आप दे चुके हैं। अब मुझे आप किसको देंगे ?"

नचिकेता ने अपने दान के द्वारा पिता को पाप से मुक्त कराने का संकल्प किया था, किन्तु ऋषि अपने पुत्र का आशय नहीं समझ पाये। केवल क्रोध से देखकर रह गये।

नचिकेता ने अपना प्रश्न फिर दोहराया। पिता फिर भी कुछ न बोले। ऋषिकुमार ने तीसरी बार फिर वही प्रश्न किया—"पिताजी, बस कुछ तो आप दे चुके हैं। अब मुझे आप किसको देंगे ?"

ऋषि आग-बबूला हो उठे। उन्हें अपने पुत्र का वाक्य बाण की तरह चुभा। वे बोले—"मैं तुझे यमराज को दूंगा !"

ऋषि के मुख से आवेश में ये शब्द निकल गये। इसपर वे पछताये, पर अब क्या हो सकता था !

नचिकेता भी एक आज्ञाकारी बालक था। पिता की आज्ञा मानना वह अपना कर्तव्य समझता था—'प्राण जायँ पर वचन न जाई।' वह विचार में पड़ गया—'यदि पिता के

वचनों को सत्य करता हूँ तो मौत का सामना करना पड़ेगा और यदि मौत से डरता हूँ तो पिता की आज्ञा भंग होगी।' यह वह समझता था कि पिताजी ने मन से ऐसा नहीं कहा। उसने बहुत सोचा और यही निश्चय किया कि 'पिताजी की आज्ञा मानूँगा।' अब ऋषिकुमार यमराज के घर जाने की तैयारी करने लगा।

पिता ने देखा तो कोमल स्वर से कहा, "तुम कहाँ जा रहे हो पुत्र ?"

"यमराज के घर पिताजी !" नचिकेता ने बाल-सुलभ भोलेपन के साथ कहा। उसके स्वर में दृढ़ता थी।

ऋषि बोले, "वत्स, मैंने तो योंही कह दिया था। अपने-आप कोई यमराज के घर नहीं जाता।"

"पिताजी, मुझे आज्ञा पालन करने की अनुमति प्रदान कीजिये।" बालक ने अपनी बात कही।

ऋषि ने अपने पुत्र को दुबारा रोका। इसपर नचिकेता ने कहा, "पिताजी, यमराज से डरने की क्या बात है ? मुझे तो उनसे बिलकुल डर नहीं लगता। जैसे यमराज मृत्यु का देवता है, वैसे ही जीवन का भी तो वही देवता है। मैं आपका पुत्र हूँ। मेरा कर्तव्य है कि आपके सर्वमेध यज्ञ में जो कमी रह गई है उसे मैं पूरा कर दूँ।"

पिता ने न चाहते हुए भी अपने पुत्र को विदा दी। पिता की आँखों में आंसू थे और ऋषिकुमार नचिकेता आश्रम से निकल दूर मार्ग पर जा रहा था। उसकी कमर में लँगोटी बँधी थी। हाथ में एक दण्ड था। वही उसकी दीर्घ यात्रा

का एकमात्र साथी था।

अथक परिश्रम के बाद कुमार नचिकेता यमपुरी जा पहुँचा।

यमराज कहीं बाहर गये हुए थे। नचिकेता ने यमराज के घर के बाहर ही डेरा डाल दिया। तीन दिन और तीन रात तक कुमार को उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। बालक बिना खाये-पिये वहीं जमा रहा।

आखिर वह घड़ी भी आ गई जब यमराज घर लौटे। यमराज ने अपने द्वार के बाहर बालक को बैठे हुए देखा तो पूछा, "वत्स, तुम कौन हो?"

बालक ने मीठी वाणी में कहा, "देव, मेरा नाम नचिकेता है। मैं ऋषि वाजश्रवा का बेटा हूँ।"

"तुम यहाँ किसलिए आये हो?" यमराज ने पूछा।

"मेरे पिता ने सर्वमेध यज्ञ किया है। यज्ञ की दक्षिणा में मुझे आपकी सेवा में भेजा है।"

यमराज चौंके। उन्हें बालक के शब्दों पर विश्वास न हुआ। वे बोले, "तुम्हें मेरे पास आते हुए भय नहीं लगा?"

कुमार ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "भय कैसा महाराज! हम बालकों को बिलकुल भय नहीं लगता। बड़ी आयु के मनुष्य ही हमें डरना सिखाते हैं। आपके बारे में मैंने बड़ी भयानक बातें सुनी थीं। किन्तु मैं चाहता था कि उन्हें स्वयं परखकर देखूँ। मैंने इस बीच सोचा और समझा है,

लोग आपसे इसीलिए डरते हैं, क्योंकि आप लोगों को मृत्यु देते हैं। मैं समझता हूँ, मृत्यु तो मनुष्य के लिए एक वरदान है। जब मनुष्य का शरीर जर्जर हो जाता है तो मृत्यु ही उसे शरीर के बन्धन से मुक्त कराती है।"

बालक के मुख से ऐसी गूढ़ बातें सुनकर यमराज बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने पूछा, "तुमने कुछ खाया-पिया भी है?"

बालक मौन बना रहा। जब यमराज को पता लगा कि पिछले तीन दिनों से यह कुमार बिना खाये-पिये यों ही पड़ा है, तो वे बोले, "अतिथिदेव, अन्न पान ग्रहण कीजिये और मुझे कृतार्थ कीजिये।"

यमराज के इतना कहते-कहते कुमार के लिए अन्न-पान की व्यवस्था की गई। ऋषिकुमार ने खा-पीकर विश्राम किया।

×

जब नचिकेता जागा तो उसने महाराज यम को अपने सम्मुख पाया। यमराज प्रसन्न मुद्रा में थे। उन्होंने कहा, "तुम बड़े मेधावी हो। मैं तुम्हारे शिष्ट आचार पर बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें तीन वर देता हूँ। जो चाहे माँग लो।"

बालक ने कहा, "मैं तो आपकी दक्षिणा हूँ। आप मुझ ही को वर देते हैं! यह मेरा बड़ा सौभाग्य है।"

यमराज ने दुबारा कहा, "हाँ तो माँग लो वर!"

"महाराज, मेरे पिता मेरे लिए बड़े व्याकुल हो रहे

यम ने प्रसन्न होकर कहा—"मैं तुम्हें तीन वर देता हूँ···"

होंगे। मैं चाहता हूँ कि मेरे जाने पर वह बहुत प्रसन्न हों और शुद्ध हृदय से मेरा स्वागत करें।"

यमराज ने प्रसन्न मुद्रा में कहा, "ऐसा ही हो!"

नचिकेता ने दूसरा वर माँगा, "जिस विद्या से किसी प्रकार का भय नहीं रहता, मुझे वह विद्या समझाइए।"

यमराज ने कहा, "ऐसा ही हो।" और फिर उन्होंने वह विद्या नचिकेता को सिखा दी।

अब तीसरा वरदान माँगने की बारी थी। नचिकेता ने कहा, "महाराज, आप ज्ञानी हैं। इसलिए मुझे समझाइए कि आत्मा क्या चीज है।"

इस गूढ़ प्रश्न को सुनकर यमराज चकित रह गये। उन्होंने बालक को अनेक प्रलोभन दिये और कहा कि इसे छोड़कर तुम जो चाहो माँग लो।

किन्तु बालक नचिकेता अपने संकल्प पर डटा रहा।

जब यमराज ने देखा कि यह बालक बिना ज्ञान प्राप्त किये टलने वाला नहीं है और फिर ज्ञान प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी भी है तो उन्होंने प्रसन्न होकर वह विद्या उसे बता दी।

अंत में बालक नचिकेता आत्मज्ञान प्राप्त करके सकुशल अपने घर लौटा। पुत्र को पाकर पिता आत्मविभोर हो उठे।

उत्तंक

●●●●●

महर्षि वेद जब स्वयं विद्यार्थी थे तो उनके गुरु अपने शिष्यों की बड़ी कठिन परीक्षा लिया करते थे। स्वयं कुमार वेद को भी यातनाओं की अग्नि-परीक्षा में से गुजरना पड़ा था। तब उन्होंने संकल्प किया था—"जब मैं आचार्य बनूँगा, तो मैं किसी शिष्य से कठिन कार्य नहीं करवाऊँगा, और न किसी को व्यर्थ में सताऊँगा।"

और जब वे आश्रम के आचार्य बने तो उन्होंने अपनी यह प्रतिज्ञा फिर दोहराई और अध्यापन-कार्य में जुट गए। शिष्य उनके कोमल व्यवहार से बड़े मुग्ध थे। चारों ओर वे अपनी सहृदयता के लिए प्रसिद्ध हो गए थे।

ऋषि के आश्रम में उत्तंक नाम का एक ब्रह्मचारी था। वह बड़ा ही समझदार, चतुर और आज्ञाकारी था। वह शान्त स्वभाव का कुमार था। उसकी वाणी में मधुरता थी। व्यवहार में वह बहुत ही नम्र था, यही कारण है कि वह कभी भी लड़ता-झगड़ता नहीं था। वह हमेशा अपने सहपाठियों की सहायता करने में सुखलाभ करता था। उसमें

संचालक एवं नेता के सभी गुण विद्यमान थे।

महर्षि वेद तीर्थों की यात्रा करना चाहते थे। परन्तु 'मेरी अनुपस्थिति में आश्रम की देखरेख एवं व्यवस्था कौन करेगा ?'—यही सोचकर वे रुक जाते थे। जब उन्होंने उत्तंक की कार्यपटुता एवं सद्व्यवहार की भावना देखी तो वे आश्वस्त हो उठे और धीरे-धीरे उन्हें विश्वास होने लगा कि उनकी अनुपस्थिति में उत्तंक ही उनका स्थान ग्रहण कर सकता है।

×

एक दिन प्रातःकाल महर्षि वेद अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। सहसा उन्होंने उत्तंक को अपने समीप बुलाया—"वत्स ! इधर आओ।"

उत्तंक गुरुदेव के चरणों के समीप आकर बैठ गया।

ऋषि बोले—"वत्स, मैं यात्रा पर जा रहा हूँ। मेरी अनुपस्थिति में तुम आश्रम की ठीक से देखरेख एवं व्यवस्था करना।"

"जो आज्ञा गुरुदेव !"—उत्तंक ने हाथ जोड़कर कहा। महर्षि ने सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया और तत्पश्चात् वे भ्रमण के लिए चले गए।

×

गुरुदेव की अनुपस्थिति में उत्तंक ने आश्रम की देख-रेख एवं व्यवस्था बड़ी योग्यता एवं लगन के साथ की। आश्रम का हर काम निश्चित समय पर होने लगा। प्रातः समय हवन होता था। वेदों के मन्त्रोच्चार से गगन गूँजता था। तदनन्तर ब्रह्मचारियों को प्रातःकालीन अल्पाहार दिया जाता

था। फिर उन्हें वेदों-शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। मध्याह्न समय उन्हें भोजन दिया जाता। उत्तंक ने पाकशाला की सफाई पर भी ध्यान दिया। अब वहाँ की प्रत्येक वस्तु को एक निश्चित स्थान पर रखने की व्यवस्था की गई।

उत्तंक ने गोशाला की व्यवस्था पर भी ध्यान दिया। सवेरा होते ही गायों को नदी-तट ले जाया जाता। पीछे से गोशाला की पूरी सफाई की जाती। गोबर आदि रखने का एक स्थान निश्चित था। गायों को नहलाने के बाद उन्हें चरने के लिए छोड़ दिया जाता। वहाँ हरियाली की कमी नहीं थी। चरने के लिए उत्तंक ने आसपास चारागाह बनवा दिए। गायों और बछड़ों का तो उत्तंक बहुत ही ध्यान रखता था। अधिकांश दूध वह बछड़ों को ही पिला देता था। गायें भी उसे बहुत चाहती थीं। उसकी एक आवाज पर गायें जहाँ की तहाँ खड़ी हो जातीं और उसका अपनी भाषा में उत्तर देतीं।

उत्तंक ने आश्रम में छायादार एवं फलदार वृक्ष लगवाए। पुष्पों की क्यारियों का तो कहना ही क्या था? क्यारियों में उसने चम्पा, कुन्द, केतकी, गुलाब, सूर्यमुखी आदि अनेक रंग-बिरंगे फूल लगवाए। इन रंग-बिरंगे और सुगन्ध भरे फूलों से आश्रम का वातावरण सुरभित हो उठा।

महर्षि वेद जब लौटकर आए और उन्होंने आश्रम को देखा

तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्होंने आश्रम में नये पौधों और वृक्षों तथा रंग-बिरंगे फूलों से लदी सुन्दर क्यारियों, पाकशाला की व्यवस्था, गोशाला की सफाई आदि को देखा तो वे मन ही मन उत्तंक को सराहने लगे।

ऋषि सोचने लगे—'उत्तंक अब सब प्रकार से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य है। वह अपना अध्ययन समाप्त कर चुका है। अब उसे दीक्षा देनी चाहिए।'

ऋषि ने उत्तंक को अपने समीप बुलाकर कहा—"वत्स! मैं तुम्हारे सेवाकार्य से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी समस्त कामनाएँ पूर्ण हों। तुम्हारी शिक्षा पूर्ण हुई, अब तुम अपने घर को जा सकते हो।"

गुरुदेव के इन शब्दों को सुनकर उत्तंक को प्रसन्नता हुई, परन्तु हर्ष-मिश्रित दुःख से उसकी आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे। उसे घर लौटने की प्रसन्नता थी, परन्तु गुरुदेव, गुरुपत्नी एवं सहपाठियों के बिछोह का बहुत दुःख था। उसने आश्रम के वृक्षों, क्यारियों के पौधों को अपने हाथों सींचकर बड़ा किया था। उसने गायों एवं बछड़ों को चराया था। बछड़ों, और हरिण के बच्चों के साथ खेलना, भाग-दौड़ करना उसकी दिनचर्या का अंग बन गया था। इन सबको छोड़ते समय उसके मन से एक हूक-सी उठ रही थी। पर बात यह थी कि उसे एक दिन तो घर लौटना था और इस शुभ घड़ी की चिरकाल से उसे प्रतीक्षा थी जो अब उपस्थित थी।

उत्तंक बोला—"गुरुदेव! आज्ञा कीजिए, मैं आपके पवित्र चरणों में गुरुदक्षिणा के रूप में क्या वस्तु प्रस्तुत

करूँ ?''

गुरुदेव उत्तंक से गुरुदक्षिणा में कुछ नहीं लेना चाहते थे। वे उसके सेवाभाव को ही गुरुदक्षिणा मानते थे परन्तु उत्तंक ने जब बार-बार आग्रह किया तो वे बोले—

''अच्छा वत्स ! जाकर अपनी गुरुमाता से पूछ लो। वे यदि कुछ कहें तो लाकर दे दो।''

गुरु की आज्ञा पाकर उत्तंक गुरुमाता के पास गया। उसने साष्टांग प्रणाम किया और कहा—''माता, मुझे गुरुजी ने घर लौटने की आज्ञा दे दी है। मैं गुरुदक्षिणा में कुछ देना चाहता हूँ। गुरुदेव ने आपसे पूछने के लिए कहा है। आज्ञा दीजिए, मैं आपके चरणों में क्या भेंट करूँ ?''

गुरुमाता बोलीं—''उत्तंक, तुम गुरुदक्षिणा के लिए मुझसे पूछते हो तो मैं कहूँगी कि मेरी एक इच्छा पूर्ण करो। राजा पोष्य की पत्नी के कानों में जो दो कुण्डल हैं वे तुम मुझे ला दो। उन्हें पाने की मेरी बड़ी साध है। आज से चौथे दिन मुझे उद्यापन करना है। इस पर्व पर मैं उन्हें पहनना चाहती हूँ। यदि उस समय तक तुम कुण्डल ले आए तो समझो कि तुम गुरुदक्षिणा देने में सफल रहे।''

गुरुमाता के ये वचन सुनकर उत्तंक ने राजा पोष्य की राजधानी की ओर प्रस्थान किया। चलते-चलते साँझ हो गई। पशु-पक्षी अपने-अपने घरों की ओर लौट रहे थे। उत्तंक चलते-चलते काफी थक गया था, पर वह रुका नहीं क्योंकि उसे एक ही धुन सवार थी कि कब वह राजधानी पहुँचे और

कब रानी से मिलकर वे कुण्डल प्राप्त करे।

रात घिर आई। घना अँधेरा हो गया, पर वह चलता ही रहा। अन्त में आधी रात के पश्चात् वह जैसे-तैसे राजा पोष्य की नगरी में जा पहुँचा। प्रातःकाल की प्रतीक्षा में एक जगह लुढ़ककर सो गया।

प्रातः दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर उत्तंक राजा पोष्य के दरबार में उपस्थित हुआ। राजा ने ऋषिकुमार का उचित सम्मान किया और आदर से आसन देकर पूछा—

"ऋषिकुमार, हमारे योग्य क्या सेवा है ?"

उत्तंक ने गुरुमाता की इच्छा कह सुनाई और रानी के कुण्डल देने को कहा।

राजा बोले—"आप राजमहल में चले जाइए और स्वयं रानी से कुण्डल माँग लीजिए।"

उत्तंक राजमहल में पहुँचा। उस विराट भवन की सुन्दरता देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया। दीवारों पर हीरे व लाल जड़े हुए थे जो सूर्य के प्रकाश में और भी चमक रहे थे। उत्तंक पूछते हुए रानी के कक्ष में जा पहुँचा। रानी ने उठकर उसका स्वागत किया और उत्तंक को आसन दिया और पूछा—"ऋषिकुमार कैसे दर्शन दिए ?"

उत्तंक ने अपने आने का आशय कह सुनाया।

रानी ने सहर्ष कुण्डल उतारते हुए कहा—"बस,

इतनी-सी बात है। हमारा अहोभाग्य है।" और उसने दोनों कुण्डल ऋषिकुमार के हाथ में रख दिए।

ऋषिकुमार का यथोचित सेवा-सत्कार किया गया। जब उत्तंक चलने लगा तो रानी ने कहा—"ऋषिकुमार! कुण्डलों को बहुत सावधानी से ले जाना। नागराज तक्षक बहुत दिनों से इन्हें हथियाना चाहता है। चौकन्ने रहना, कहीं वह मार्ग में छल से इनका हरण न कर ले।

उत्तंक रानी की दयालुता से आत्म-विभोर हो उठा। उसने कृतज्ञता भरे स्वर में कहा—"राजमाता, चिन्ता न कीजिए, नागराज मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता!"

×

उत्तंक कुण्डलों को पाकर बहुत प्रसन्न था। उसे स्वप्न में भी विचार न था कि इतनी सरलता से उसे कुण्डल मिल जायेंगे। वह खुशी से फूला नहीं समा रहा था और जल्दी से आश्रम की ओर लौट रहा था। अब तक दोपहर हो चली थी।

धूप के कारण उसे बहुत गर्मी लगने लगी थी। चलते-चलते वह थक गया था। समीप में तालाब को देखकर उसको दुबारा स्नान करने की इच्छा हो आई।

उसने कपड़े उतारकर तट पर रख दिए। स्वयं नहाने के लिए वह तालाब में घुसा। ज्यों ही उसने डुबकी लगाई, न जाने कहाँ से नागराज आया और कुण्डलों को उठाकर चम्पत हो गया।

उत्तंक नहाकर तालाब से बाहर निकला। उसने

कपड़े उठाए तो देखा कि कुण्डल नहीं हैं। उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे उसपर बिजली गिर पड़ी हो। उसने अपने चित्त को स्थिर किया। आँखें मूँदी और उपाय सोच रहा था कि इन्द्र देवता आते दिखाई पड़े। उत्तंक ने प्रणाम किया और अपनी दुविधा बताई।

इन्द्र देवता ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—"ऋषिकुमार, निश्चय ही नागराज तक्षक पाताल में वे कुण्डल ले गया होगा। चलो, मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें पाताल लोक में लिये चलता हूँ।"

नागराज तक्षक ने इन्द्र देवता के साथ ऋषिकुमार को आते हुए देखा तो उनके आने का अभिप्राय समझ गये। फिर भी अनजान होकर बोले—

"कैसे दर्शन दिए हैं भगवन्? और साथ में यह नवयुवक कौन है?"

ऋषिकुमार ने आगे बढ़कर प्रणाम किया।

इन्द्र बोले, "ऋषिकुमार! इन्हें अपने आने का कारण स्पष्ट करो।"

उत्तंक ने कहा, "महाराज, मैं राजा पौष्य की रानी से गुरुपत्नी के लिए कुण्डल लेकर जा रहा था कि मार्ग में एक सरोवर के तट पर रुका....."

देवराज इन्द्र ने बात काटकर कहा, "यह ऋषिकुमार

कपड़े उतारकर स्नान के लिए सरोवर में उतरा कि कोई चोर या छली आया और कुण्डल लेकर हवा हो गया।" और फिर वे नागराज की ओर ध्यान से देखने लगे।

नागराज तक्षक मुस्कराए। फिर थोड़ा रुककर विनोद से बोले—"और आप उस चोर का पता लगाते-लगाते यहाँ तक आ पहुँचे हैं!"

इन्द्र और तक्षक दोनों हँसने लगे।

फिर नागराज तक्षक बोले—"इन कुण्डलों को हथियाने के लिए मैं बड़ा लालायित रहा हूँ। इसका एक इतिहास है, पर आपको वह सब सुनने का अवकाश नहीं है। अस्तु! इस बार मेरा दाँव लग गया तो बीच में आप कूद पड़े……।" थोड़ा रुककर नागराज ने उत्तंक को सम्बोधित करते हुए कहा—

"हाँ तो ऋषिकुमार, तुम वही कुण्डल लेना चाहते हो?"

"जी हाँ, भगवन्!"

"और यदि मैं उन कुण्डलों को न दूँ?"

"आप वैसा कभी नहीं कर सकते?"

"क्यों नहीं कर सकता?"

"आप जैसे महान् नागराज को वैसा करना शोभा जो न देगा। कहाँ आप, कहाँ चोर वृत्ति!…और अब मैं देवराज की कृपा से आप तक पहुँच गया हूँ तो क्या आप घर पर आये अतिथि का इतना भी सम्मान न करेंगे! मैं यह कल्पना भी नहीं करता कि आप व्यक्तिगत आसक्ति में पड़-

कर अपने कर्तव्य से आँखें मूँद लेंगे।"

इन्द्र विनोदपूर्वक बोले—"इसपर तुम्हारा क्या उत्तर है नागराज ?"

"देवराज, ऋषिकुमार बड़ा प्रतिभाशाली दिखाई देता है। इसने तो मुझे अपने वाक्जाल में फाँस लिया है। अब उन कुण्डलों को अपने पास रखना मेरी सामर्थ्य से बाहर है।"

थोड़ी देर रुककर नागराज ने फिर कहा—

"ऋषिकुमार उत्तंक, लो, वे कुण्डल ले लो !"

यह सुनकर उत्तंक प्रसन्न हो उठा। अब कुण्डल उसके पास थे और वह गुरु के आश्रम को लौट रहा था।

तीन दिन बीत गए थे। आज चौथा दिन था। उषाकाल था। उत्तंक बेतहाशा आश्रम की ओर दौड़ा चला आ रहा था। चारों ओर क्या हो रहा था, उसे कोई सुध नहीं थी। उसे एक ही लगन थी कि कैसे वह जल्दी से जल्दी गुरुगृह में पहुँचे।

गुरुमाता नहा-धोकर बाल बाँध रही थी। उत्तंक अभी तक न आया था। वह उसीके बारे में सोच रही थी। तभी उत्तंक ने आकर प्रणाम किया और उन्हें कुण्डल सौंप दिए।

कुण्डल देखकर गुरुमाता अवाक् रह गई। वे बड़े सुन्दर थे।

उत्तंक गुरुदेव के पास गया। वहाँ जाकर उसने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया और सारी बात कह सुनाई। इसपर गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया और घर जाने की आज्ञा प्रदान की।

उत्तंक ने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया। प्रेम-वश उसके नेत्रों से आँसुओं की धार बह चली। गद्‌गद होकर उसे अपनी छाती से लगा लिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उत्तंक ने भरे हृदय से आश्रम से विदाई ली।

श्वेतकेतु

प्राचीनकाल में एक महात्मा हुए हैं। उनका नाम था आरुणि गौतम। उनका पुत्र था श्वेतकेतु। श्वेतकेतु यद्यपि बुद्धिमान था तो भी पढ़ने-लिखने में उसका मन नहीं लगता था।

पिता ने श्वेतकेतु से कहा, "मेरे कुल में तुम्हारे जैसा मूर्ख आज तक पैदा नहीं हुआ। तुम किसी योग्य गुरु के पास जाओ और ब्रह्मचारी होकर अध्ययन करो।"

पिता के यह वचन श्वेतकेतु को चुभ गये। वह एक आश्रम में जाकर प्रविष्ट हो गया और यत्न-पूर्वक अध्ययन करने लगा।

इस प्रकार बारह वर्ष बीत गये और श्वेतकेतु अपना अध्ययन समाप्त कर घर लौटा।

श्वेतकेतु ने शास्त्रों का तो पूरा अध्ययन कर लिया, परन्तु उसके मन का विकास नहीं हुआ। वह घमंडी हो गया और अपने-आपको सबसे बड़ा विद्वान समझने लगा।

पिता ने श्वेतकेतु में यह दोष देखा तो बहुत समझाया

"पुत्र, अहंकार सारे दोषों की जड़ है। अहंकार से विद्या-बुद्धि नष्ट हो जाती है। ज्ञान की सीमा अपार है, उसके लिए घमंड करना उचित नहीं।"

श्वेतकेतु ने सुना और सोचा—पिता की यह बात सत्य हो सकती है। उसने संकल्प किया कि वह अपने-आपको बदलने का यत्न करेगा।

श्वेतकेतु ने ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि पार की तो पिता ने कहा, "पुत्र, अब तुम गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर रहे हो और तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी गृहस्थी का भार उठा नहीं सकूंगा। तुम स्वयं यत्न करो और धन उपार्जित करो और विवाह करके गृहस्थ आश्रम में जुट जाओ।

श्वेतकेतु ने सुना तो बोला, "आज्ञा दीजिये पिताजी, आपकी कृपा से वेदों और शास्त्रों का ज्ञाता हूँ। मैं जहाँ भी जाऊँगा, जीविका कमा लूँगा। आपका आशीर्वाद चाहिए।"

पिता ने आशीर्वाद देते हुए कहा, "प्रस्थान करो वत्स, एक बात की गाँठ बाँध लो। कहीं भूलकर भी घमंड न करना।"

×

इसके पश्चात् श्वेतकेतु ने घर से प्रस्थान किया। श्वेतकेतु चला जा रहा था। उसे यह पता नहीं था कि कहाँ जाना है और न ही यह जानता था कि धन कैसे कमायेगा।

चलते-चलते कई गाँव पार हो गये। किन्तु श्वेतकेतु आगे बढ़ता ही चला गया।

जब श्वेतकेतु बहुत थक गया तो एक पेड़ के नीचे

सुस्ताने लगा। बैठे-बैठे उसने सोचा—"क्यों न मैं राजा की सभा में जाऊँ और अपनी विद्वत्ता की धाक जमाऊँ।'

सोचते-सोचते उसे नींद आ गई और वह अपनी कल्पनाओं में खो गया।

जब श्वेतकेतु उठा तो सूर्य अस्त हो रहा था। लाल किरणें सारे वातावरण में फैली हुई थीं। वह हड़बड़ाकर उठा तो लगा अपनी वस्तुओं को इकट्ठा करने। देखते ही देखते वह फिर चलने लगा। गोधूलि का समय था। गायें चरकर अपने निवास को लौट रही थीं, पक्षी चहचहा रहे थे, और श्वेतकेतु अपनी राह में बढ़ता जा रहा था।

मार्ग में उसे एक यात्री मिला। उसने नवयुवक ब्राह्मण को नमस्कार करते हुए पूछा, "आप कहाँ जायेंगे ?"

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, "जहाँ मुझे भाग्य ले जायेगा।"

यात्री का कौतूहल बढ़ा, उसने सोचा—'यह कोई अद्भुत व्यक्ति प्रतीत होता है।' उसने बात बढ़ाते हुए कहा, "क्या आपने अपने आपको भाग्य के भरोसे छोड़ दिया है ? क्या आपको अपने कर्म पर से विश्वास उठ गया है ?"

श्वेतकेतु झेंपा। उसने कहा, "मैं घर से जीविका कमाने के लिए निकला हूँ। मैं ब्राह्मण हूँ। मैंने बारह वर्ष तक सरस्वती की आराधना की है। मैंने जो तय किया है, उसे मैं किसी राजा की सभा में परखना चाहता हूँ और राजा से धन प्राप्त करके अपनी जीविका चलाना चाहता हूँ।"

यात्री ने नवयुवक की ओर देखा। श्वेतकेतु का मस्तक

चमक रहा था। वह बड़ा प्रभावित हुआ। उसने कहा, "नव-युवक, पंचाल देश का राजा प्रवाहण जैबलि अपनी विद्वत्ता के लिए बहुत प्रसिद्ध है। वह विद्वानों का बहुत आदर करता है। सैकड़ों विद्वान उसके राज-दरबार की शोभा बढ़ाते हैं। तुम भी वहाँ जाकर उसके राज-दरबार में सम्मिलित हो जाओ।"

वह फिर बोला, "नवयुवक! रात होने वाली है। अब तुम कहाँ विश्राम करोगे? आज रात्रि तुम मेरे घर पर ही रहो। कल प्रातः वहाँ से तुम पंचाल देश के लिए रवाना हो जाना।"

श्वेतकेतु ने कहा, "आपकी इस कृपा के लिए धन्य-वाद।" यह कहकर श्वेतकेतु उस पथिक के साथ उसके घर चला गया और रात भर उसने वहीं विश्राम किया।

दूसरे ही दिन श्वेतकेतु राजा प्रवाहण जैबलि की नगरी की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसके मन में नाना प्रकार की शंकाएँ उठती थीं। उसके मन में कई संकल्प-विकल्प आए। वह उन सबसे जूझता हुआ, दृढ़ मन से अपने पथ की ओर बढ़ रहा था।

इस तरह कई दिनों तक वह निरंतर पैदल चलकर पंचाल देश की राजधानी में जा पहुँचा। राजा से अपने आने

की सूचना दी और उनसे अपनी भेंट की प्रतीक्षा करने लगा।

राज्य की ओर से संचालित अतिथिगृह में श्वेतकेतु को निवास और खान-पान आदि की सुविधाएँ दी गईं। उचित स्वागत-सम्मान पाकर ब्राह्मण कुमार का मन पुलकित हो उठा।

जब राज-दरबार के विद्वानों की राजसभा समाप्त हुई तो राजा को श्वेतकेतु का ध्यान हो आया। उन्होंने श्वेतकेतु को बुलवा भेजा।

ऋषिकुमार को उचित आदर-सम्मान के साथ वहाँ लाया गया। राजा ने कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् ऋषिकुमार से आने का आशय पूछा।

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, "मैंने बारह वर्ष तक गुरुगृह में रहकर वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया है। मैं ऋषि आरुणि का पुत्र हूँ। मैंने गृहस्थ में प्रवेश किया है। मैं धन उपार्जित करने निकला हूँ। मैं आपसे शास्त्रार्थ करके अपनी विद्या-बुद्धि का परिचय देना चाहता हूँ। यही मेरे आने का आशय है।"

पंचाल देश के राजा बड़े विद्वान एवं नम्र स्वभाव के थे। उन्होंने एक नजर ऋषिकुमार की ओर देखा। वे समझ गये कि कुमार को अपनी विद्वत्ता का बहुत घमंड है। वे मन ही मन मुस्कराये। फिर थोड़ी देर रुककर बोले, "ऋषिपुत्र, आपको धन की आवश्यकता है, सो मैं भेंटरूप में आपको देने को प्रस्तुत हूँ। आप ब्राह्मणकुमार हैं। आपके कुल की महान

परम्परा है। आपके पिता एक पहुँचे हुए तपस्वी हैं। यह सब कुछ देखकर मैं चाहता हूँ कि आप यथेष्ट धन ले जायें और अपनी गृहस्थी जमायें और जो आपने शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की है उसे अभी रहने दें।"

श्वेतकेतु ने समझा कि राजा मुझसे शास्त्रार्थ करने से बचना चाहते हैं। उसने सोचा—'राजा मेरे सामने टिक नहीं सकेंगे, इसीलिए ऐसा कह रहे हैं।'

यह सोचकर श्वेतकेतु बोला, "राजन्, पहले मैं आपसे शास्त्रार्थ करना चाहूँगा। मुझे टालने का यत्न न कीजिए।"

राजा ने गम्भीर होकर कहा, "यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो उसे पूरा किया जायेगा।"

×

दूसरे दिन श्वेतकेतु को सम्मान के साथ राजा के पास लाया गया।

राजा ने पूछा, "तो आप मुझसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं।"

श्वेतकेतु ने कहा, "हाँ राजन्।"

राजा फिर बोले, "मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछूँगा। आप उनके उत्तर दीजिये।"

राजा ने एक प्रश्न पूछा। श्वेतकेतु उसका कोई उत्तर न दे सका।

राजा ने दूसरा प्रश्न पूछा। श्वेतकेतु उसे नहीं जानता था। वह कुछ बोल न सका, केवल देखता रह गया।

इसी तरह राजा ने तीसरा, चौथा और पाँचवा प्रश्न

राजा ने पूछा—"तो आप मुझसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं ?"...

पूछे। श्वेतकेतु किसी एक का भी उत्तर न दे पाया। उसका सिर चकराने लगा। उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया और वह सिर थामकर रह गया। उसकी देह से पसीना छूट रहा था।

महाराज ने ऋषिकुमार की यह दशा देखी तो उन्हें दया आयी और वे चुप हो गये।

श्वेतकेतु को अपनी अज्ञानता का भान हुआ। उसने कहा, "भगवन् ये सब बातें तो मुझे किसी ने नहीं बतायीं। सचमुच मेरी शिक्षा अधूरी है। मैंने जो आपको कष्ट दिया है, उसके लिए क्षमा कीजिए और मुझे यहाँ से जाने की आज्ञा दीजिए।

राजा ऋषिकुमार की इस विनम्र वाणी को सुनकर दया से भर उठे। उन्होंने कहा, "कोई बात नहीं ऋषिकुमार, तुमने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है। आयु के साथ साथ जो छिछ-लापन रहता है। वह तुममें अवश्य है। यत्न करो, धीरे-धीरे दूर हो जाएगा। अब तुम मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार करो और अपने घर की ओर प्रस्थान करो।"

यह कहकर राजा ने बहुत-सा धन दिया। साथ ही सैकड़ों गायें भी दान में दीं।

राजा और श्वेतकेतु के शास्त्रार्थ के समय कुछ विद्वान सभा में बैठे थे। उनमें से एक देवल नाम के विद्वान बार-बार श्वेतकेतु की ओर देखते थे। वे ऋषिकुमार के भोलेपन पर मुग्ध हो गये थे। जब श्वेतकेतु को राजा ने इतनी दान दक्षिणा दी तो सहसा उनके मन में भी एक संकल्प उठा। उन्होंने राजा से कहकर अपनी कन्या का विवाह श्वेत-केतु से कर दिया।

×

जब श्वेतकेतु ने अपने घर की ओर प्रस्थान किया तो उसके पीछे-पीछे उसकी जीवन-सहचरी थी। साथ में सैकड़ों गायें और घर की आवश्यक सामग्री भी थी। एक अच्छा-खासा समारोह-सा जुट गया था।

ऋषिकुमार श्वेतकेतु मन ही मन कृतज्ञ था। वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ा चला जा रहा था।

बीच बीच में उसकी सुकुमार पत्नी उससे पूछती थी—"प्राणनाथ, अभी आपका आश्रम कितनी दूर है?"

जब आरुणि ऋषि ने श्वेतकेतु को दल-बल सहित आते देखा तो उनका हृदय विभोर हो उठा। वे मन ही मन बुद-बुदाये। यह तो उनका पुत्र श्वेतकेतु ही है। क्या यह विवाह करके लौटा है ? और इतनी सारी धन-सामग्री भी तो इसके साथ है। यह सब कैसे हुआ ?··· वह ऐसा सोच ही रहे थे कि पुत्र और पुत्रवधू ने उनको आकर प्रणाम किया। ऋषि ने आशीर्वाद दिया। उनकी आँखों में स्नेह के आँसू थे।

उस दिन आश्रम में आनन्द मनाया गया।

उपकोसल

उपकोसल गुरु-आश्रम में रहकर अपनी शिक्षा पूर्ण कर चुका था। उसके सहपाठी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए अपने घरों को लौट चुके थे। परन्तु गुरुदेव ने इस नवयुवक का समावर्तन-संस्कार न किया था। यह संस्कार उन शिष्यों का किया जाता था जिन्हें घर लौटने की अनुमति प्राप्त होती थी। उपकोसल गुरुजी के आदेश की प्रतीक्षा में था, और चाहता था कि वह भी जल्दी से घर लौटे।

पर गुरु सत्यकाम जाबाल उपकोसल को घर लौटने की अनुमति अभी न देना चाहते थे। उसकोसल सोचता—'ऐसा क्या कारण है कि गुरुदेव मुझे जाने की आज्ञा नहीं दे रहे हैं? ऐसे कितने ही मेरे सहपाठियों को लौटने की अनुमति मिल चुकी है जो मुझसे शास्त्रज्ञान में पीछे थे। फिर मुझमें क्या कमी है।'

ऐसा सोचते-सोचते वह व्याकुल हो उठता।

एक दिन सबेरे उठकर उसने सुना कि गुरुदेव तीर्थों

की यात्रा पर जा रहे हैं। वह शीघ्र ही गुरु के समक्ष पहुँचा और उनकी दृष्टि में पड़ने लगा ताकि उसे देखकर गुरुदेव को उसका स्मरण हो आए।

पर गुरुदेव उसको भूले हुए थोड़े ही थे, जो वे उसे लौटने की अनुमति न दे रहे थे, वह सोच-समझकर ही। गुरु ने शिष्य को म्लान मुख देखा और उसका कष्ट समझ गये। पर ऊपर से अनजान बने रहे। उन्होंने शिष्य को पाकर उसे बड़े स्नेह से आशीर्वाद दिया, और तीर्थ-यात्रा पर चल पड़े।

गुरुदेव के स्नेह का स्मरण कर उपकोसल ने सोचा—'हो न हो, मुझमें ही कोई कमी है, नहीं तो गुरुदेव मुझे क्यों रोकते?' वह सोचने लगा—'गुरुदेव ने मुझे आशीर्वाद देते समय क्या शब्द कहे थे।··· हाँ, याद आया। उन्होंने कहा था, 'वत्स! मन को एकाग्र करो—इन्द्रियों को वश में करो, तुम्हारा कल्याण हो।' ···तो गुरुदेव ने मुझे मन को एकाग्र करने का आदेश दिया है।'

और जब उपकोसल ने अपनी मानसिक दशा पर दृष्टि डाली तो उसे ज्ञान हुआ कि उसका मन बुरी तरह से भौतिक लालसाओं में जकड़ा हुआ था। उसे अपनी भूल मालूम हुई। गुरुदेव के प्रति अभी जो उसके मन में आक्रोश की भावना उत्पन्न हुई थी उसके लिए वह पछताने लगा। उसने प्रायश्चित करने की सोची।

×

गुरुदेव को तीर्थ यात्रा पर गये हुए दूसरा दिन था। उपकोसल ने चित्त को एकाग्र करने का निश्चय किया।

प्रातःकाल के आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर उपकोसल ने एकांत-सेवन किया। अन्न-जल छोड़ दिया और मौन धारण कर लिया।

आश्रमवासियों ने देखा तो आश्चर्यचकित रह गए। कहाँ उपकोसल, और कहाँ तपश्चर्या! वह आश्रम के रँगीले शिष्यों में से एक था। किसीको सपने में भी यह विचार न आता था कि वह गंभीर रूप से कभी उपवास करेगा। सबने देखा और कौतूहल हुआ। कइयों को उसकी इस वृत्ति पर विश्वास ही न हुआ। कई यह कहते हुए सुने गए कि यह उपकोसल की एक बहक मात्र है। वह इसपर टिक नहीं सकेगा।

पर यह क्या, एक दिन बीता; दो दिन बीते। अब तीसरा दिन भी बीत चला था, पर उपकोसल अपने समाधि-स्थल पर विराजमान था। जिसने सुना वह आश्चर्य में डूब गया। गुरुदेव आश्रम में न थे, जो उसे इतना तप करने से रोक सकते थे।

गुरुपत्नी ने देखा कि तीसरा दिन बीत रहा है और उपकोसल ने अन्न ग्रहण नहीं किया है। वे उपकोसल के समीप गईं। उन्होंने पूछा—

"इतनी कठिन तपस्या किस लिए वत्स! तुम आज अन्न ग्रहण नहीं करोगे?"

उपकोसल ने गुरुपत्नी के चरणों की ओर देखते हुए निवेदन किया—

"माता, मेरा मन लालसाओं का घर है। मैं मानसिक

गुरुपत्नी ने पूछा—"इतनी कठिन तपस्या किसलिए वत्स ?"...

दुःखों से बुरी तरह व्याकुल हूँ। मैं उपवास करके उनपर संयम करने का यत्न कर रहा हूँ।"

उपकोसल की दृढ़ता के सामने गुरुपत्नी मौन हो गई। उपकोसल कई दिनों से एकान्त-सेवन में लीन रहा। उसका मानस अत्यन्त शांत एवं निर्मल हो गया था। अब उसके मन में लालसा के लाल डोरे नहीं थे। वह अपने को स्वस्थ चित्त अनुभव कर रहा था। उसने तप किया। उसका मुख ब्रह्मतेज से दमक उठा।

इसी बीच गुरुदेव तीर्थयात्रा से लौटे। उन्हें आश्रम में आने पर ज्ञात हुआ कि पीछे उपकोसल ने कठोर तप किया

है। उपकोसल उनके सामने आया तो उसे देखकर गुरु आत्म-विभोर हो उठे। वे प्रसन्न होकर बोले—"वत्स, तुम्हारा मुख तेज से दमक रहा है, पर यह सब परिवर्तन इतने थोड़े समय में कैसे हुआ ?"

उपकोसल ने नम्र स्वर में उत्तर दिया—"भगवन्, यह सब आपकी कृपा का फल है। इस बीच मैंने मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया है···"

"और उसपर संयम करने में तुम सफल रहे हो। पर भूलना नहीं, मन की एकाग्रता एक बार के प्रयास से सदा के लिए नहीं हो जाती। उसे अपने पास बनाए रखने के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है, और मेरा विश्वास है, तुम अपने भावी जीवन में इस लक्ष्य से आँख नहीं चुराओगे।"

उपकोसल ने कृतज्ञता-भरी दृष्टि से गुरुदेव की ओर देखा। तब गुरु ने जीवन की कुछ गूढ़ बातें बताईं। शिष्य सुनकर कृतकृत्य हो उठा।

आश्रम में अच्छा-खासा समारोह हुआ। इस प्रकार उपकोसल का समावर्तन किया गया, और गुरु की आज्ञा पाकर उस मेधावी शिष्य ने अपने घर की ओर प्रस्थान किया।

मैत्रेयी

●●●●●

एक महर्षि हुए हैं याज्ञवल्क्य। वे बड़े प्रतिभाशाली थे। वे लकीर पीटना न जानते थे। उन दिनों गुरु-महिमा को कई लोग बहुत बढ़-चढ़कर आँकते थे। याज्ञवल्क्य जब विद्यार्थी थे तो एक बार उनके गुरुदेव ने कहा—"जब गुरु की कृपा होती है तो जड़ से जड़ भी महान ज्ञानी बन जाता है।"

याज्ञवल्क्य ने सुना तो उनसे रहा नहीं गया। वे झट बोले—"गुरु की कृपा महत्त्वपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर शिष्य की योग्यता का भी अपना महत्त्व है। यदि शिष्य में योग्यता न हो तो गुरु-कृपा एकदम व्यर्थ है।"

जिसने सुना वही आवेश से भर उठा। पर याज्ञवल्क्य अपने वचनों पर दृढ़ रहे। बाद में यही याज्ञवल्क्य अपने काल के महानतम योगी कहलाये।

※

और जिस मैत्रेयी का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं वे इन्हीं महामानव की एक पत्नी थीं।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं, कात्यायनी और मैत्रेयी। कात्यायनी आचार्य की गृहस्थी सँभालती थी और मैत्रेयी उनके पठन-पाठन एवं अध्ययन के कार्य में हाथ बँटाती थी। एक गृहलक्ष्मी थी तो दूसरी सरस्वती। दोनों के उचित सहयोग से ऋषि का गृहस्थ-जीवन परम सुख से बीत रहा था। दोनों पत्नियों का अपने-अपने क्षेत्र में योगदान बेजोड़ था।

याज्ञवल्क्य की दोनों पत्नियाँ प्राणों से बढ़कर अपने पति की सेवा करती थीं। ऋषि भी दोनों की नस-नस पहचानते थे। किसी दिन कात्यायनी को भोजन पकाने की वर्जना होती और उसकी जगह मैत्रेयी भोजन बना देती तो उनके स्वामी इस व्यवधान को झट पहचान लेते। वे कह उठते—"आज भोजन में रस नहीं है। तुम कहाँ थीं कात्यायनी?" इसपर कात्यायनी अपनी सफाई देती।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि कात्यायनी आधी रसोई बनाने के पश्चात् आश्रम के किसी आवश्यक कार्य से कहीं चली जाती और पीछे मैत्रेयी उनका स्थान ले लेती तो आचार्य चाहे सामने न रहते तो भी उन्हें इसका आभास मिल जाता। इस प्रसंग में उनमें काफी मनोविनोद चलता था।

×

अब दूसरे पक्ष में देखिये। मैत्रेयी ऋषि के चिन्तन में बड़ी सहायक थी। उनके विचार-प्रतिपादन में मैत्रेयी उनका अर्धभाग थी। जब कभी याज्ञवल्क्य दिन में दो-एक बार मैत्रेयी से शास्त्रचर्चा न कर लेते, उन्हें चैन न पड़ती थी।

और जब याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी इस प्रकार की चर्चा में लीन होते तो कात्यायनी उन दोनों को चुपचाप देखती रहती। ऐसे में वे दोनों उसे बहुत अच्छे लगते थे।

इस प्रकार ऋषि-परिवार ने अपना गृहस्थ जीवन बड़े सुख से बिताया।

अब महर्षि याज्ञवल्क्य को संन्यास लेने की इच्छा हुई।

उन्होंने मैत्रेयी और कात्यायनी को पास बुलाकर अपना निश्चय बताया। सुनकर सहसा दोनों मौन हो गईं।

यद्यपि महर्षि ने दोनों को समय से पूर्व मन से तैयार कर लिया था और उन दोनों को भी आभास हो गया था कि अब उनके पतिदेव का संन्यास लेने का समय समीप ही है। पर उस समय को आया जानकर उनका नारी-हृदय द्रवित हो उठा। दोनों भावुक हो गईं। उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। इतने में महर्षि ने कात्यायनी को सम्बोधित किया। कात्यायनी ने अपने-आपको संभाला। महर्षि किसी गहरे सोच में थे। वे कात्यायनी की मनोदशा को न भाँप सके। वे अपनी बात कहने लगे। अब तक कात्यायनी स्वस्थ हो गई थी। वह उत्तर में बोली—"कहिए स्वामी!"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"वैसे तो तुम दोनों सखीभाव से रहती हो, पर मैं चाहता हूँ कि मैं संन्यास लेने से पूर्व अपने

घर की सारी सामग्री, छोटी या बड़ी सम्पत्ति, को दो भागों में बाँट जाऊँ, ताकि मेरे जाने के बाद कोई यह न सुने कि याज्ञवल्क्य की पत्नियों में घर की सम्पत्ति को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ है। तुम्हें इसमें कोई आपत्ति तो नहीं है ?''

''आपत्ति कैसी स्वामिन् ! आप जो भी करेंगे, मुझे स्वीकार होगा।'' कात्यायनी ने कहा।

तब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी की ओर देखते हुए कहा—''और तुम्हें मैत्रेयी ?''

''मुझे ?'' मैत्रेयी ने थोड़ा मुस्कराते हुए कहा, ''हाँ, मुझे इसमें आपत्ति है।''

यह सुनकर ऋषि को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। वे बोले—''क्या अभिप्राय है तुम्हारा मैत्रेयी ?''

मैत्रेयी ने नम्र वाणी में कहा, ''भगवन् ! मुझे कुछ स्पष्टीकरण दीजिये, तभी मैं अपना मत बना सकूँगी।''

याज्ञवल्क्य बोले—''तुम्हारे मन में जो शंका हो उसे स्पष्ट कहो।''

''मैं वैसा ही करने का यत्न कर रही हूँ महर्षि ! कृपया मुझे समझाने का कष्ट कीजिए कि आप कौनसा लक्ष्य सामने रखकर अपनी धन-सम्पत्ति का परित्याग करना चाहते हैं ?''

''भगवती, मैंने अमर पद की प्राप्ति की इच्छा से घर-बार छोड़ने का संकल्प किया है।''

''तो क्या आपकी धन-सम्पत्ति आपको अमर पद नहीं दिला सकती ?'' मैत्रेयी ने पूछा।

"क्या आपकी सम्पत्ति आपको अमर पद नहीं दिला सकती ?" मैत्रेयी ने पूछा।

"नहीं मैत्रेयी, यह अमर पद नहीं दिला सकती।" महर्षि बोले।

"और यदि आप मुझे धन-धान्य से पूर्ण यह सारी पृथ्वी भी दे जाएँ तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ ?" मैत्रेयी का अगला प्रश्न था।

"तुम्हारा प्रश्न बहुत अच्छा है। सचाई यह है कि लालसा में फँसे व्यक्ति की जैसी स्थिति होती है, ठीक वैसी ही तुम्हारी स्थिति होगी। उससे अच्छी नहीं।" महर्षि ने स्पष्ट किया।

मैत्रेयी ने बिना सोचे कहा—"तो फिर भगवन्! जिससे मैं उस स्थिति को नहीं पहुँच सकती उसे पाकर मैं क्या करूँगी। मेरा अनुरोध है कि बहन कात्यायनी चाहें तो आप उन्हें सारी सम्पत्ति दे दीजिए और मुझे अपने पथ की सहगामिनी बना लीजिए।"

यह सुनकर महर्षि पुलकित हो उठे। उन्होंने कहा—"तुम्हारी इच्छा सुनकर मुझे तुमपर गर्व होता है देवी! तुमसे यही आशा थी।"

उसके पश्चात् महर्षि ने जो वचन कहे उनसे मैत्रेयी कृतज्ञ हो उठी। दूसरे ही दिन महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी सारी सम्पत्ति कात्यायनी को दे दी और स्वयं भौतिक सुखों की मोह-माया छोड़कर वन की ओर प्रस्थान किया। उनके पीछे-पीछे मैत्रेयी थी। जिसने भी उन्हें आश्रम से विदा होते देखा, उसका मन-प्राण विरह की व्याकुलता और विचित्र आनन्द से भर उठा!

प्राण और इन्द्रियों का द्वन्द्व

●●●●●

एक बार प्राण और इन्द्रियों में परस्पर विवाद हो गया। प्राण कहता था—"शरीर में सबसे अधिक महत्त्व मेरा है। यदि मैं शरीर को त्याग दूँ तो दूसरा कार्य एक क्षण भी नहीं चल सकता। अतः मैं तुम सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ हूँ।"

इन्द्रियाँ कहतीं—"अरे प्राण, सुन ! शरीर में हमारा महत्त्व तुमसे अधिक है। यदि हम न रहें तो शरीर गूँगा, अन्धा, बहरा आदि होकर रह जाये। अतः तुमसे हम सब श्रेष्ठ हैं।"

पर प्राण कहता—"नहीं, मैं ही तुम सबसे श्रेष्ठ हूँ।" इस बात को इन्द्रियों ने मानना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार वे परस्पर तू-तू, मैं-मैं पर उतर आये। फलस्वरूप झगड़ा बढ़ता चला गया।

प्राण कुछ समझदार था। उसने कहा—"इन्द्रियो, सुनो ! इस प्रकार तो विवाद समाप्त होने का नहीं। हमें चाहिए कि हम सब मिलकर एक पंच कर लें। वह जो भी निर्णय दे, वही निर्णय अन्तिम हो, और सभी उसको मानें।

इस बात पर इन्द्रियों ने विरोध करते हुए कहा—"भला यह कैसे हो सकता है ? इस बात का निर्णय तो मत-दान द्वारा ही हो सकता है। जिस पक्ष का बहुमत हो, वही श्रेष्ठ मान लिया जाए।"

प्राण ने कहा—"मैं यह क्यों मानने लगा ? तुम लोगों का बहुमत तो है ही। ऐसे में तुम वैसे ही जीत जाओगी और मुझे पराजय का मुँह देखना पड़ेगा।" मतदान का प्रस्ताव मुझे स्वीकार नहीं है। सब इन्द्रियाँ मेरे विरुद्ध हैं, मैं अकेला हूँ।"

प्राण से इन्द्रियों की बहुत कहा-सुनी हुई। अन्त में इन्द्रियों ने पंच-निर्णय करवाने की बात मान ली। अब विवाद यह उठ खड़ा हुआ कि पंच किसे बनाया जाए—अग्निदेवता, वायुदेवता, प्रजापति ब्रह्मा या किसी अन्य देवता को ? बाद में प्रजापति ब्रह्मा को सर्वसम्मति से पंच चुना गया।

×

इन्द्रियाँ और प्राण सभी मिलकर ब्रह्मा के पास गए। सभी ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और बोले—"प्रजा-पालक ! हम सबमें विवाद उठ खड़ा हुआ है कि 'हममें से श्रेष्ठ कौन है ? इस झगड़े का अन्त नहीं हो पा रहा है। आप प्रजापति हैं, सबको पालने वाले हैं। हम सब मिलकर आपकी शरण में आये हैं। आप जो भी निर्णय देंगे, वही सबको मान्य होगा। कृपा करके आप ही इस विवाद का अन्त कर दीजिए।"

ब्रह्मा कुछ देर तक मौन रहे। फिर सबको सम्बोधित करते हुए अपना निर्णय कह सुनाया—"तुममें से जिसके

निकल जाने से शरीर जड़ हो जाए उसीको तुम श्रेष्ठ मानो।''

सबने इस निर्णय को स्वीकार कर लिया। सभी प्रसन्न हो, वापस लौटे।

×

वाणी ने सबसे पहले शरीर को छोड़ा। उसके शरीर से निकल जाने के बाद शरीर की गतिविधि में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। वह गूंगा अवश्य हो गया था।

कुछ मास बाद वाणी लौटकर आई और उसने अन्य इन्द्रियों से पूछा, ''मेरे चले जाने के बाद तुम सब कैसे रहे ?''

शेष इन्द्रियों ने उत्तर दिया, ''तुम्हारे चले जाने के बाद हमें कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जिस प्रकार एक गूंगा व्यक्ति न बोलते हुए भी प्राणों से साँस लेता है, आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, और मन से सोचते हुए जीवित रहता है, ठीक उसी प्रकार हम सब भी तुम्हारे बिना बोले जीवित रही हैं।''

यह सुनकर वाणी ने यह स्वीकार कर लिया कि उसका स्थान शरीर में मुख्य नहीं है। इसके पश्चात् वह शरीर में प्रविष्ट हो गई।

×

वाणी के लौटने के पश्चात् आँखों ने शरीर को छोड़ दिया। आँखों के निकल जाने के बाद शरीर अन्धा अवश्य हो गया, परन्तु उसका कार्य यथावत् चलता रहा।

कुछ मास बाद आँखें लौटकर आयीं और उन्होंने अन्य

इन्द्रियों से पूछा—"हमारे चले जाने के बाद तुम सब कैसे रहे ?"

शेष इन्द्रियों ने उत्तर दिया, "क्या तुम समझती हो कि तुम्हारे बिना हम अपना अस्तित्व ही खो बैठतीं ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । जिस प्रकार एक अन्धा व्यक्ति न देखते हुए भी प्राणों से सांस लेता है, वाणी से बोलता है, कानों से सुनता है, और मन से सोचते हुए जीवित रहता है, उसी प्रकार हम सब भी तुम्हारे बिना देखे जीवित रही हैं।"

यह सुनकर आँखों का भ्रम दूर हो गया । उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि उनका स्थान शरीर में मुख्य नहीं है । इसके उपरान्त वे शरीर में प्रविष्ट हो गईं ।

×

जब आँखों ने शरीर में प्रवेश कर लिया, तब कानों ने शरीर छोड़ दिया । कानों के निकल जाने के बाद शरीर बहरा अवश्य हो गया, किन्तु उसका कार्य पूर्ववत् चलता ही रहा ।

वर्ष-भर बाद कान लौटकर आये और पूछा—"मेरे निकल जाने के बाद तुम सब कैसे रहे ?"

शेष इन्द्रियों ने उत्तर दिया, "तुम्हारे शरीर छोड़ने के बाद हमें कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई । जिस प्रकार एक बहरा व्यक्ति अपने प्राणों से साँस लेता है, आँखों से देखता है, वाणी से बोलता है, और मन से सोचते हुए जीवित रहता है, ठीक उसी प्रकार हम सब भी तुम्हारे बिना सुने जीवित रही हैं ।

ऐसा सुनकर कानों को अपनी अज्ञानता का भान हुआ। उन्होंने यह मान लिया कि शरीर में उनका स्थान प्रधान नहीं है। इसके अनन्तर उन्होंने शरीर में प्रवेश कर लिया।

×

इसके बाद मन ने शरीर को छोड़ दिया। मन के चले जाने के बाद शरीर अविवेकी और विचारहीन हो गया। वह बिना सोचे-समझे कार्य करने लगा, किन्तु उसका कार्य रुका नहीं।

वर्ष-भर पश्चात् मन लौटकर आया और उसने अन्य इन्द्रियों से पूछा—"तुम सब मेरे बिना कैसे जीवित रहे?"

शेष इन्द्रियों ने उत्तर दिया—"क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे बिना हम निष्क्रिय हो जातीं? तुम्हारा ऐसा सोचना बिलकुल गलत है। जिस प्रकार एक व्यक्ति मन से सोचे-समझे बिना प्राणों से सांस लेता है, आँखों से देखता है, वाणी से बोलता है, और कानों से सुनता है, ठीक उसी प्रकार हम बिना सोचे-समझे कार्य करती रही हैं।"

ऐसा सुनकर मन की भ्रान्ति भी दूर हो गई। उसने अपना हठ छोड़ दिया और जान लिया कि शरीर में उसका स्थान भी प्रधान नहीं है। तत्पश्चात् वह शरीर में प्रविष्ट हो गया।

×

सबसे अन्त में प्राण ने शरीर से निकलना चाहा। उसके शरीर से निकलने का यत्न करते ही सभी इन्द्रियाँ

प्राण के शरीर से निकलने का यत्न करते ही सभी इन्द्रियाँ अकुला उठीं···

अकुला उठीं—वे छटपटा के बाहर आने लगीं। तब वे सब बोली—"भगवन् ! आप शरीर से न निकलें। आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकेंगी। प्रभु आप ही हमारे स्वामी हैं, आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं। कृपया अब आप शरीर में ही बिराजिये।"

इस प्रकार सिद्ध हो गया कि शरीर में प्राण सबसे श्रेष्ठ हैं। प्राण ही शरीर का स्वामी है।

देवताओं का घमण्ड

देवताओं और असुरों में चिरकाल तक घोर युद्ध हुआ। युद्ध में असुरों का पलड़ा भारी था। उन्होंने देवताओं को बुरी तरह पछाड़ा। देवताओं में निराशा छा गई। भगवान विष्णु की प्रबल प्रेरणाशक्ति से देवताओं में नये सिरे से विजय की इच्छा जागृत हुई। उन्होंने असुरों को संग्राम के लिए ललकारा। फिर दोनों में संघर्ष हुआ। देवताओं की विजय हुई। वे गर्व से फूल उठे। अब सब जगह उन्हीं की धाक थी। प्रमुख देवता पृथक्-पृथक् शक्तियों के प्रतीक कहलाने लगे। धीरे-धीरे उन्हें अपनी शक्ति का घमण्ड होने लगा और वे इस तथ्य को भूल गए कि उनकी इस विजय का मूल कारण भगवान की शक्ति थी। वे ये समझने लगे कि उन्होंने स्वयं अपने बल से असुरों पर विजय प्राप्त की है। मन ही मन वे मुस्कराने लगे। भगवान ने देवताओं के इस मिथ्या अभिमान को देखा। उन्होंने सोचा—'अगर देवताओं में इस प्रकार का अभिमान बना रहा तो वे देवत्व को खो बैठेंगे, इसलिए इनका घमण्ड तोड़ना चाहिए।' यह सोच

कर स्वयं उन्होंने यक्ष का रूप धारण कर लिया। इसे देखकर देवता चकरा गये। वे यह नहीं समझे कि यह यक्ष कौन है। सब उससे मन ही मन डरने लगे। वे उसका स्वरूप जानने का उपाय ढूँढ़ने लगे। सब देवताओं ने मिलकर मन्त्रणा की। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अग्निदेवता सर्वज्ञ हैं, सभी कुछ जानने वाले हैं—इसीलिए उनको 'जातवेदा' भी कहते हैं; उन्हींको इस दिव्य यक्ष का पता लगाने के लिए भेजा जाए। ऐसा निश्चय कर सभी देवता अग्निदेवता के पास आए और हाथ जोड़, विनती करने लगे—

"भगवन्! आप महातेजस्वी हैं। वेदों के ज्ञाता हैं। आप जाकर पता लगाइए कि यह यक्ष कौन है?"

अग्निदेवता को पहले से ही अपनी शक्ति पर अभिमान था। जब उन्होंने अन्य देवताओं को इस प्रकार प्रार्थना करते सुना तो घमण्ड उनके सिर पर चढ़कर बोलने लगा—"बस, इतनी-सी बात है! इसमें इतना भयभीत होने की क्या आवश्यकता है? धीरज धरिए। मैं अभी उस यक्ष का पता लगाकर आता हूँ।"—यह कहकर अग्निदेव यक्ष के समीप गए।

अग्निदेव को अपने समीप खड़ा देखकर यक्ष ने पूछा—"आप कौन हैं? यहाँ क्यों आए हैं?" यह सुनकर अग्निदेव अवाक्-से रह गए और मन ही मन सोचने लगे—'यह कौन

है, जो मुझे नहीं जानता,' और फिर झुँझलाकर बोले—"मैं अग्निदेव हूँ। मुझे सभी जानते हैं इसीलिए मेरा नाम जात-वेदा है।"

तब यक्ष जान-बूझकर अनजान बनकर बोले—"अच्छा! तो आपका ही नाम अग्निदेव है? आपके इस कष्ट के लिए धन्यवाद! आपमें कौनसी शक्ति है, कृपया मुझे बताइए। मैं आपका स्वरूप जानने का इच्छुक हूँ।"

यक्ष के इन वचनों को सुनकर अग्निदेवता आगबबूला हो उठे। वे गर्जते हुए बोले—"है, तो आप यह देखना चाहते हैं कि मैं क्या कुछ कर सकता हूँ! आप तो यह पूछिए कि मैं क्या नहीं कर सकता? अगर मैं चाहूँ तो क्षणभर में इस दिव्य जगत् को आग लगा दूँ! ये जितने सुन्दर-सुन्दर भवन दिखाई पड़ते हैं तथा इनमें जो प्राणी विचरण करते हैं, मैं चाहूँ तो वे क्षण-भर में जलकर राख हो जाएँ!"

यह सुनकर यक्ष ने अग्निदेवता के सामने एक सूखा तिनका रखते हुए कहा—"आप कहते हैं कि आप क्षण-भर में सब कुछ भस्म करने की शक्ति रखते हैं, पर मुझे आपकी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। यह छोटा-सा तिनका है, इसे जलाकर दिखा दीजिए तो मुझे विश्वास हो जाएगा कि आपमें भस्म करने की अमित शक्ति है।"

इतना सुनते ही अग्निदेव फिर गरजे—"यह तुच्छ-सा तिनका मेरे लिए क्या है? अगर आप कहें तो मैं सम्पूर्ण जंगल को आग लगाकर राख कर दूँ!"

यक्ष फिर बोला—"नहीं, नहीं, इसकी कोई आव-

यक्ष ने कहा—"यह छोटा-सा तिनका है।
इसे जलाकर दिखा दीजिए···।"

श्यकता नहीं। आप इसी तिनके को जलाकर दिखा दीजिए। मुझे आपकी शक्ति पर विश्वास हो जाएगा।"

यह सुनकर अग्निदेव झट से तिनके के पास पहुँच गए और लगे उसे जलाने। उन्होंने इस तिनके को जलाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु उसमें आग नहीं लगी। अन्त में वे लज्जित होकर वापिस लौट गये और बोले, "भाई, मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है। यह वस्तुतः बड़ा शक्तिशाली है!"

अग्निदेवता के ये वचन सुनकर देवताओं के भय का ठिकाना न रहा। वे सब मिलकर वायु देवता के पास गए और प्रार्थना करने लगे—"स्वामिन्! आप महान वेगवान हैं। आप जाकर पता लगाइए कि यह यक्ष कौन है।"

वायु देवता भी कम घमण्डी न थे। देवताओं को प्रार्थना करते देखकर उनके अभिमान का पारावार न रहा। वे घमण्ड में चूर होकर बोले—"आप यहीं रहें। मैं कुछ ही क्षणों में यक्ष का पता लगाकर आता हूँ!"

यह कहकर वे तुरन्त यक्ष के समीप पहुँचे। वायुदेवता को समीप देख, यक्ष बोले—"आप कौन हैं महाशय?"

"मैं वायुदेवता हूँ। मेरा ही दूसरा नाम 'मातरिश्वा' है।"—वायुदेव ने गर्व से चूर होकर कहा।

तब यक्ष ने अनजान बनते हुए कहा—"अच्छा तो

आप हैं वायुदेवता ! आप ही आकाश में बिना किसी आधार के घूमते हैं ! किंतु मुझे आपकी शक्ति पर विश्वास नहीं होता । यह तिनका है । इसे उड़ाकर दिखा दीजिए तो मुझे विश्वास हो जाएगा कि आपमें उड़ाने की अनन्त शक्ति है।''

यक्ष के इन शब्दों को सुनकर वायुदेवता फूत्कार कर उठे—''आप मुझे क्या समझते हैं ? अगर मैं चाहूँ तो सारे भू-मण्डल को उड़ा दूँ·····! ये बड़े-बड़े जो भवन दिखाई दे रहे हैं, अगर मैं चाहूँ तो क्षण-भर में गिराकर भूमिसात् कर दूँ।''

"अगर मैं चाहूँ तो सारे भू-मण्डल को उड़ा दूँ···" वायु देवता बोले।

वायुदेवता की गर्व-भरी वाणी सुनकर यक्ष ने उनके सामने वही तिनका रखते हुए कहा—''आप इस तिनके को ही उड़ाकर दिखा दें । इसमें मुझे आपकी शक्ति पर विश्वास हो जाएगा।''

इतना सुनते ही वायुदेवता तिनके के पास बड़े वेग से पहुँचे और उसे उड़ाने के लिए पूरी शक्ति लगा दी। पर उसे टस से मस न कर सके। उनका घमण्ड हवा हो गया। वह चारों खाने चित्त होकर, सिर नीचा किए, देवताओं के पास आकर बोले—"मैंने उसे पहचानने का पूरा प्रयत्न किया पर मैं नहीं समझ पाया कि वह कौन है।"

वायुदेवता के इन वचनों को सुनकर देवता और भी भयभीत हो उठे। उन्होंने अब वहाँ इन्द्र देवता को भेजने का निश्चय किया। सब इकट्ठे होकर देवराज इन्द्र के समीप गए और बोले—"देवराज ! आप ही समर्थ हैं। आप ही शक्तिमान हैं। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी यक्ष का पता नहीं लगा सकता। कृपया आप जाकर मालूम कीजिए कि यह यक्ष कौन है।"

"आप कहते हैं तो मैं इस यक्ष का पता लगाता हूँ।" यह कहकर इन्द्रदेव यक्ष के पास चल पड़े। ज्यों ही वे यक्ष के समीप पहुँचे, त्यों ही यक्ष अन्तर्धान हो गए।

इन्द्रदेव वहीं खड़े रहे। सहसा उन्होंने देखा—भगवती उमा खड़ी-खड़ी मंद-मंद मुस्करा रही हैं। सभी देव उनके समीप जाकर बोले—"भगवती ! आप सर्वज्ञ हैं। कृपा करके हमें बताइए कि यह दिव्य यक्ष कौन था और यहाँ किस लिए आया था ?"

भगवती उमा बोलीं—"उस दिव्य यक्ष के रूप में स्वयं विष्णु भगवान थे। उन्हींकी शक्ति से आप लोगों ने असुरों पर विजय पाई थी, किन्तु आप इस तथ्य को भूल गए थे। आप लोगों के इस मिथ्या अभिमान को तोड़ने के लिए ही भगवान ने स्वयं यक्ष का रूप धारण किया था। आपका कल्याण इसीमें है कि आप सचाई को कभी न भूलें।"

उमा भगवती का कथन सुनकर सभी देवताओं का गर्व मिट गया और वे सुख से रहने लगे।

ब्रह्मा का उपदेश

सुर और असुर आपस में चिरकाल तक वैरी रहे हैं।

किन्तु एक समय ऐसा आया था जब सुर, असुर और मानव में सद्भावना हो गई थी। तीनों स्नेह से मिलकर रहने, एक-दूसरे का आदर करने, एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करने की सम्भावनाओं के बारे में सोच-विचार करने लगे थे।

तीनों वर्गों के सम्मानित व्यक्ति इकट्ठे हुए। उन्होंने एकमत होकर निर्णय किया, "लड़ाई-झगड़ा व्यर्थ है। हम सबको इस संसार में फलने-फूलने का अधिकार है। हम सबको मिलकर ब्रह्माजी से शिक्षा लेनी चाहिए। इससे हम एक-दूसरे के और निकट आ जायेंगे।"

तीनों वर्गों के चुने हुए प्रतिनिधि मिलकर ब्रह्मा के पास पहुँचे। उनका वेश विनीत था। उनके मन में शिक्षा ग्रहण करने की भावना थी।

ब्रह्माजी ने देखा तो प्रसन्न हो उठे। उन्हें अपनी दृष्टि पर विश्वास न हुआ। उन्होंने सोचा—ये तीनों एकसाथ कैसे?

सुर और असुर तो युगों से एक-दूसरे के रक्त के प्यासे रहे हैं। आखिर इनमें यह सद्‌बुद्धि आई कैसे ?

वे ऐसी ही विचारधारा में खो गये थे कि तीनों वर्गों का एक-एक प्रतिनिधि उनके सामने एक-एक कदम आगे बढ़ आया। तीनों व्यक्ति एक स्वर में बोले—"हे प्रजापति, हम आपके पास मार्ग-दर्शन पाने के लिए आये हैं। हमें सद्‌बुद्धि दीजिए और हमारा कल्याण कीजिए।"

ब्रह्मा प्रसन्न होकर बोले, "आपके इस हृदय-परिवर्तन को देखकर मेरा मन पुलकित हो रहा है। पर मुझे शंका हो रही है कि आप अपने निश्चय पर अटल कैसे रहेंगे। खैर,

"मैं आपको शिक्षा देने को प्रस्तुत हूँ···।" ब्रह्मा बोले।

यह तो आपके सोचने की बात है। यदि आप मुझसे कुछ ग्रहण करने के लिए आये हैं तो मुझे उसे स्वीकार करना चाहिए। मैं आपको शिक्षा देने को प्रस्तुत हूँ, पर इसके लिए आपको एक शर्त पूरी करनी होगी।...''

सुर, असुर और मानव के प्रतिनिधियों ने एक स्वर से कहा, ''वह शर्त क्या है भगवन् ? आप जो भी कहेंगे, हम उसे पूरा करेंगे।''

''अच्छी बात है। आप लोग मेरे आश्रम में रहिए। कुछ काल तक ब्रह्मचर्य का पालन कीजिए। जब मैं देखूँगा कि आप मेरा उपदेश धारण करने की स्थिति में आ गये हैं, तब मैं आपको उचित ज्ञान का उपदेश दूँगा।''

यह कहकर ब्रह्मा मौन हो गये। सुर, असुर और मानवों में उल्लास छा गया।

तीनों वर्ग के व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का संयम करने में जुट गये। धीरे-धीरे वे अपने मन की दुर्वृत्तियों पर संयम करने लगे। अब क्या था ! सुर अपने काम को जीतने में लग गये। असुर अपने क्रोध और लोभ को और मानव अपनी ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्भावनाओं को वश में करने में संलग्न हो गये। वे सब वैर-भाव को भूल गये और एक-दूसरे से प्रेम करने लगे। उनकी दिन-चर्या बदल गई। उनका मन निर्मल हो गया। उनकी आत्मा पवित्र हो गई।

ब्रह्माजी ने यह सब देखा और वे सन्तुष्ट हो गये।

×

तीनों जातियों के प्रतिनिधि फिर आगे बढ़े। उनमें से एक ने कहा, "भगवन्! हमपर कृपा कीजिए। हम सब आपके आदेश की प्रतीक्षा में हैं।"

"अच्छी बात है। मैं एक-एक वर्ग के व्यक्तियों को अलग-अलग शिक्षा दूंगा। आप तीनों को एकसाथ शिक्षा नहीं दी जा सकती, क्योंकि आप सबकी मानसिक स्थिति एक-सी नहीं है।"

तीनों वर्ग के व्यक्ति उनके उपदेश की प्रतीक्षा में स्तब्ध खड़े थे।

ब्रह्मा कुछ क्षण मौन रहे, फिर उन्होंने सुरों की ओर एकटक देखा और देखते रहे। मानव और दानव उनका संकेत पाकर लौट गए। जब वहाँ केवल सुर ही रह गये तो वे उनकी शब्द-ध्वनि का पान करने के लिए विकल हो उठे।

ब्रह्मा के मुख से निकला—"द।"

और वे फिर मौन हो गये। सुरों के कानों में 'द' वर्ण व्याप्त हो गया। वह इस 'द' का अर्थ निकालने लगे। उन्होंने चिन्तन-मनन किया। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे—'द' अर्थात् दमन।" उन्होंने सोचा—"हमारे जीवन में भोग-विलास घर कर गया है; इसीलिए ब्रह्माजी हमें इन्द्रिय-दमन का जो उपदेश दे रहे हैं, वह उचित ही है।"

वे ऐसा कुछ सोच ही रहे थे कि ब्रह्माजी ने पूछा, "आप लोगों ने 'द' से क्या अर्थ ग्रहण किया?"

सुर बोले, "आपने हमें इन्द्रियों पर दमन करने का

आदेश दिया है नाथ !"

ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर कहा, " 'द' से मेरा ठीक यही अभिप्राय था। आप अपनी इन्द्रियों का दमन कीजिए।"

देवता ब्रह्माजी से उपदेश ग्रहण कर कृतार्थ हुए। वे उन्हें प्रणाम करके अपने धाम को लौट आये।

×

अब मानव और असुर अपनी बारी की प्रतीक्षा करने लगे। सोते-जागते, उठते-बैठते उनके मन में एक ही विचार समाया रहता था; और वह यह था कि कब ब्रह्माजी प्रसन्न हों और कब वे हमें उपदेश दें, और कब हम अपने-अपने घरों को लौटें।

इस प्रकार कई दिन बीत गये। वे संयम से अपनी-अपनी दिनचर्या में जुटे रहे।

एक दिन मानव, समूह बनाकर ब्रह्मा के पास पहुँचे। वे कुछ कहना ही चाहते थे कि एकाएक ब्रह्मा बोल उठे, "हाँ, तो आप लोग कुछ सुनना चाहते हैं ?"

मानव एक स्वर से बोल उठे, "हाँ भगवन् ! हमें भी भी कृतार्थ कीजिए।"

ब्रह्मा के मुखारविन्द से पुनः निकला—"द।"

और वे फिर मौन हो गये। मानवों के कानों में 'द' वर्ण व्याप्त हो गया। वह इस 'द' का अर्थ निकालने लगे। उन्होंने चिन्तन-मनन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे—'द' अर्थात् दान। उन्होंने सोचा—'द' में बहुत बड़ा रहस्य समाया हुआ है। हमारे जीवन में लोभ-लालच घर कर गया

है, इसलिए ब्रह्माजी दान देने का जो उपदेश दे रहे हैं वह बड़ा अनमोल है।...''

मानव ऐसा कुछ सोच ही रहे थे कि ब्रह्माजी ने पूछा, ''आप लोगों ने 'द' से क्या अर्थ ग्रहण किया ?''

मानव बोले, ''आपने हमें दान करने का उपदेश दिया है नाथ !''

ब्रह्माजी प्रसन्न होकर बोले, ''ठीक 'द' से मेरा यही अभिप्राय था। आप दान का महत्त्व समझिए और पुण्यलाभ कीजिए।''

मानव ब्रह्मा से उपदेश ग्रहण कर कृतज्ञ हो गये और नमस्कार करके अपने धाम लौट आये।

×

अब असुर शेष रह गये थे। वे सोच रहे थे—'अब ब्रह्माजी हमें प्रसन्न होकर सन्देश दें और हम भी अपने-अपने घरों को लौटें।'

इसी प्रतीक्षा में कुछ दिन और निकल गये। वे संयम से अपनी-अपनी दिनचर्या में जुटे रहे।

एक दिन असुर समूह बनाकर ब्रह्मा के पास पहुँचे और बोले, ''अब हमपर कृपा कीजिए नाथ !''

ब्रह्मा ने मुस्कराकर कहा, ''ठीक है।''

और वे फिर चुप हो गये।

असुर ब्रह्मा का मुँह ताकते रहे। कुछ क्षण इसी प्रकार बीते। ब्रह्माजी के मुँह से फिर निकला—''द।''

वे फिर मौन हो गये। असुरों के कानों में 'द' वर्ण

व्याप्त हो गया। उन्होंने चिन्तन किया और इस परिणाम पर पहुँचे—'द' अर्थात् दया। उन्होंने सोचा—"हमारे जीवन में हिंसा और क्रूरता बुरी तरह समा गई हैं, इसीलिए ब्रह्माजी हमें दया का जो संदेश दे रहे हैं वह उचित ही है।"

वे ऐसा कुछ सोच ही रहे थे कि ब्रह्माजी ने पूछा, "आप लोगों ने 'द' से क्या अर्थ निकाला?" असुर बोले, "आपने हमें प्राणियों पर दया करने का संदेश दिया है।"

ब्रह्मा ने संतुष्ट होकर कहा, "ठीक 'द' से मेरा यही संकेत था। आप दया को अपनाइए और सुख-लाभ कीजिए।"

असुर ब्रह्माजी से उपदेश लेकर धन्य-धन्य हो गये और उन्हें प्रणाम करके अपने धाम लौट गये।

×

ब्रह्माजी ने सुरों, असुरों, और मानवों सबको एक ही उपदेश दिया—'द'। तीनों ने अपनी-अपनी मनस्थिति के अनुसार उस वर्ण की अपनी-अपनी व्याख्या कर ली और वही अर्थ उनके लिए उपयोगी हो गया।